२५वां वर्ष

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानियां

संतोष श्रीवास्तव, डॉ. सी. भास्कर राव, डॉ. विद्याभूषण,
डॉ. श्यामसखा 'श्याम', महावीर रवांल्टा, रामदेव सिंह

आमने-सामने
रामदेव सिंह

सागर-सीपी
डॉ. रामविलास शर्मा

१५ रुपये

अप्रैल - जून २००४

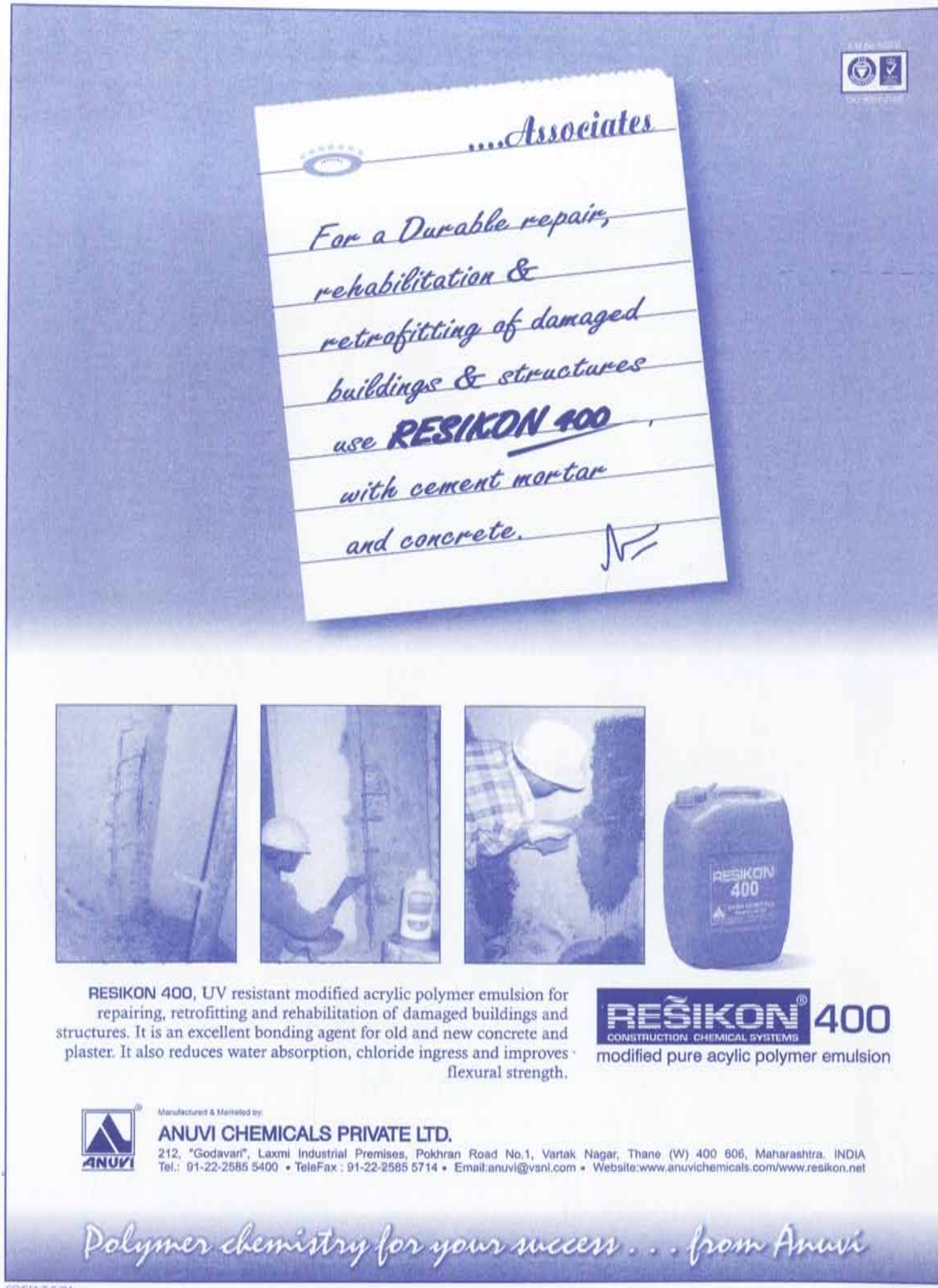

....Associates
For a Durable repair, rehabilitation & retrofitting of damaged buildings & structures use RESIKON 400, with cement mortar and concrete.
RESIKON 400
RESIKON 400, UV resistant modified acrylic polymer emulsion for repairing, retrofitting and rehabilitation of damaged buildings and structures. It is an excellent bonding agent for old and new concrete and plaster. It also reduces water absorption, chloride ingress and improves flexural strength.
REŠIKON® 400
CONSTRUCTION CHEMICAL SYSTEMS
modified pure acylic polymer emulsion
ANUVI
Manufactured & Marketed by:
ANUVI CHEMICALS PRIVATE LTD.
212, "Godavari", Laxmi Industrial Premises, Pokhran Road No.1, Vartak Nagar, Thane (W) 400 606, Maharashtra. INDIA
Tel.: 91-22-2585 5400 • TeleFax : 91-22-2585 5714 • Email:anuvi@vsnl.com • Website:www.anuvichemicals.com/www.resikon.net
Polymer chemistry for your success . . . from Anuvi

COGENT 8/04

अप्रैल-जून २००४
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'

संपादिका
मंजुश्री

संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
जय प्रकाश त्रिपाठी

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●
आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.
वार्षिक : ५० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड
कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर द्वारा केवल 'कथाबिंब' के नाम ही भेजें.

● संपर्क ●
ए-१० 'बसेरा,'
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : २५५१ ५५४१ व २५५५ ५८२२
e-mail: kathabimb@yahoo.com

प्रचार-प्रसार व्यवस्थापक
अरुण सक्सेना
जी-२४, शकुंतला, सेक्टर-६,
वाशी, नवी मुंबई-४०० ७०३
फोन : २७८२ ०१९९

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

।। ५ ।। शहतूत पक गये हैं ! / **संतोष श्रीवास्तव**
।। ९ ।। खिड़की / **डॉ. सी भास्कर राव**
।। १२ ।। क्या करेंगे गुहा दा ! / **डॉ. विद्याभूषण**
।। १७ ।। क्या यह कत्ल था ! / **डॉ. श्याम सखा 'श्याम'**
।। २२ ।। दोस्त बडोनी, तुम कहां हो ! / **महावीर रवांल्टा**
।। २६ ।। संभालिए अपना राजपाट ! / **रामदेव सिंह**

लघुकथाएं

।। १६ ।। प्यार / **डॉ. सतीश दुबे**
।। २१ ।। हर शाख पे... / **डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र**
।। २५ ।। सरकार का काम / **लक्ष्मी नारायण अग्रवाल**
।। ३१ ।। स्वाभिमान की राह / **डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र**
।। ५१ ।। मूल्यांकन / **आलोक कुमार सातपुते**
।। ५१ ।। अस्तित्व शून्य / **डॉ. योगेंद्रनाथ शुक्ल**

गीत / कविताएं / ग़ज़लें

।। ४२ ।। गीत / **रामानुज त्रिपाठी**
।। ४९ ।। तुम्हारी पुरानी ओढ़नी *(कविता)* / **महीपाल भूरिया**
।। ४९ ।। ग़ज़ल / **डॉ. प्रेमचंद पांडेय**
।। ५० ।। मत खींचो...रेखाएं *(कविता)* / **मुरलीधर पांडेय**
।। ५० ।। ग़ज़लें / **राम सनेहीलाल 'यायावर'**
।। ५१ ।। कहने की बात *(कविता)* / **श्रीरंग**

स्तंभ

।। २ ।। लेटरबॉक्स
।। ४ ।। 'कुछ कही, कुछ अनकही'
।। ३२ ।। आमने-सामने / **रामदेव सिंह**
।। ३८ ।। सागर-सीपी / **डॉ. रामविलास शर्मा**
।। ४३ ।। पुस्तक-समीक्षाएं

लेटर बॉक्स

"कथाबिंब" का जनवरी-मार्च ०४ अंक पढ़ने का सुअवसर मिला. इस अंक में प्रकाशित प्राय: प्रत्येक रचना अच्छी लगी. किंतु जयनारायणजी की कहानी 'महाभिनिष्क्रमण' सचमुच प्रशासनिक कुव्यवस्था, अमरबेल की तरह चतुर्दिक व्याप्त भ्रष्टाचार और सामाजिक दिशाहीनता पर बेबाक टिप्पणी है. कश्मीर और गुजरात के लोगों की मानसिकता बिहार के शीर्ष सत्ताधारी नेताओं की तानाशाही कार्यशैली तथा प्रदेश की बदहाली प्रबुद्धजनों को बहुत सालती है. पता नहीं यह स्थिति कब तक बनी रहेगी ? मेरी समझ से इस त्रासदी के लिए तथाकथित शिक्षितवर्ग भी कम दोषी नहीं है. एक समुदाय विशेष के उच्च शिक्षा प्राप्त और स्वयं को आधुनिक कहने वाले लोग भी मज़हब के नाम पर आत्मसमर्पण की मुद्रा में हैं. आलोक पांडेय की कहानी के पात्र 'अंकित', 'अशोक' और 'योगेंद्र' उन हजारों दरिंदों और वासना के भूखे भेड़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी घृणित काली करतूतों की कहानी समाचार पत्रों की सुर्ख़ियां बनती हैं. सूरज प्रकाश की कहानी 'राइट नंबर, रॉन्ग नंबर' भी अच्छी लगी लेकिन आमने-सामने के अंतर्गत उनकी आत्मरचना के कठोर यथार्थ ने ज्यादा प्रभावित किया. प्रेम प्रकाशजी की जिंदर से बातचीत ने उनके लेखकीय जीवन की गहराइयों से परिचित कराया. पत्रिका में प्रकाशित गीत और ग़ज़लों ने भी अच्छा मनोरंजन किया. कुल मिलाकर इस अंक की प्रस्तुति सराहनीय है.

डॉ. प्रेमचंद पांडेय
प्रशस्तडीह, घोघा (पूर्व रेल्वे),
भागलपुर (बिहार) - ८१३२०५

"कथाबिंब" का यह पहला अंक है, जिससे मैं परिचित हुआ हूं. मैं आपको बधाई देता हूं कि आपकी यह पत्रिका निरंतर पच्चीस वर्षों से प्रकाशित हो रही है. आज जब देखा जाता है कि आम आदमी के पास साहित्य को पढ़ने की फुर्सत ही नहीं है, कुछ तो यह भी कि भौतिकवाद के इस युग में साहित्य की चर्चा लेशमात्र भी इधर-उधर नहीं दिखती. जबकि एक ज़माना ऐसा था कि हर घर में, हर गली के नुक्कड़ में साहित्य की चर्चा करते लोग नहीं अघाते थे. आज स्नातक कॉमर्स का छात्र जानता ही नहीं कि प्रेमचंद, शरतचंद्र कौन थे ? कहानी क्या है ? बस एक चर्चा कि कंप्यूटर क्या है और ज़माना इसी के पीछे भाग रहा है. रही-सही कसर दृष्य मीडिया लील गया है और हमारे सभ्य समाज को नग्नता, भ्रष्टाचार और वहशीपन तेजी से लील रहा है. यहीं पर साहित्य की भूमिका सामने आती है. समय की इस तेज रफ़्तार ज़िंदगी में साहित्य की पत्रिका निकालना एक बड़ा काम है.

ज्ञान वर्मा
'रवींद्र साहित्य कुंज', १०३, प्रताप विहार,
पार्ट-I, दिल्ली-११००४१

उम्र का असर ! बुक स्टॉल पर जा नहीं पाता. और आप सबों के स्नेह-सद्भाव से इतनी क़िताबें और कुछ पत्रिकाएं भी सुलभ होती रहती हैं कि कितना और क्या-क्या पढ़े कोई ! लेकिन इस प्रमाद के कारण जिस सुख से मैं वंचित होता रहा हूं इसका अनुमान 'कथाबिंब' के जनवरी-मार्च ०४ के अंक को पढ़कर हुआ. पत्रिका की चर्चा और प्रशंसा सुनता रहा था, यह अंक पाकर जाना कि यह क्यों चर्चित तथा प्रशंसित है. बहुत दिनों के बाद एक ऐसी पत्रिका मिली जिसकी हर रचना पढ़ गया, अन्यथा साहित्यिक 'फैशन' की पत्रिकाओं में बहुत सारी सामग्री इतनी बोझिल होती है वह अन-पढ़ा रह जाता है. और 'कथाबिंब' में बिना तामझाम के ज़रूरी और नितांत पठनीय रचनाएं पाकर बड़ा संतोष मिला. मुखपृष्ठ का चित्र भी आकर्षक-सार्थक है.

जयनारायणजी की कहानी 'महाभिनिष्क्रमण' पढ़कर कहानी का एक नया स्वाद मिला. धूमिल याद आये. फैंटेसी शैली का प्रयोग (कवि रहीम का मिलना) भी बड़ा सार्थक लगा. 'निर्मोही' अवश्य थोड़ी कच्ची कहानी लगी. 'राइट नंबर, रॉन्ग नंबर' का भी ख़ास अंदाज़ है. साधारण विषय की कहानी इस अंदाज़े बयां के कारण असाधारण बन गयी है. सारी लघुकथाएं एक पर एक. किंतु मंगला रामचंद्रन की 'फ़ासला' एक झटका देती है. कविताएं भी प्राय: अच्छी हैं. सबसे बड़ी बात कि आपका संपादकीय अत्यंत साफ़-सुथरा और पारदर्शी तथा बेबाक है. दो दिन में पत्रिका का अक्षर-अक्षर पढ़ गया, अब क्या करूं ?

समीक्षाएं इतने प्यार और विस्तार से कम लोग ही छापते हैं और समीक्षक को कंप्लीमेंटरी कॉपी भेजी जाये यह सद्भाव बीते दिनों की बात हो गयी है. आप पत्रकारिता के आदर्श मानक का निर्वाह कर रहे हैं. और इस संकल्प-निष्ठा के साथ २५ वर्षों की अनथक यात्रा ! बधाई तो दूं ही और शुभकामनाएं भी कि यह २५ कम से कम ५० तो हो ही जाये. आगे की राम जाने !

अशोक प्रियदर्शी
नीचे करमटोली, रांची - ८३४ ००८.

"कथाबिंब" के जनवरी-मार्च ०४ अंक में जयनारायण की कहानी 'महाभिनिष्क्रमण' ने प्रभावित किया, लेकिन सबसे अधिक झकझोरा संपादकीय के आख़िरी तीन अनुच्छेदों में व्यक्त विचारों और स्पष्टवादिता ने. दिल्ली से बिहार तक की राजनीतिक-सांस्कृतिक विसंगतियों को जिस तरह से आपने अपने संपादकीय का विषय बनाया है वह खुद किसी कहानी से कम प्रभावी नहीं है. हसन जमाल की दो लघुकथाएं पढ़ीं. पूर्व के किसी अंक में उनका पत्र भी पढ़ा था, फिर पत्र की प्रतिक्रिया में जनार्दन यादव का पत्र भी. सब कुछ मेरे स्मरण में है. आप अपनी जिम्मेदारी को जिस ईमानदारी के साथ निभाये जा रहे हैं, यह आगे चलकर पत्रकारिता को साहस और बल प्रदान करेगी.

डॉ. अमरेंद्र
सं. 'वैखरी', लाल खांदरगाह लेन, सराय, भागलपुर (बिहार)

"कथाबिंब" की २५वीं वर्षगांठ पर आपने मेरा आत्मकथ्य और कहानी सुरुचिपूर्ण तरीके से प्रकाशित किये हैं. इसके लिए आभारी हूं. अपने बारे में लिखने से पहले मैं कई बरस तक पशोपेश में रहा कि क्या अपने जीवन/संघर्ष/तकलीफ़ों और अनजाने प्रसंगों को सार्वजनिक करना चाहिए या नहीं ! लेकिन पाठकों/मित्रों/साथियों के पत्रों से मेरा उत्साह बढ़ा है. सभी पाठकों का यही मानना है कि किसी भी लेखक की संघर्षयात्रा को पढ़कर दरअसल खुद उनके सामने राहें खुलती हैं. मुझे 'आमने-सामने' पर जिन रचनाकारों ने पाठकों/मित्रों ने फोन/पत्र/ई-मेल के ज़रिए बधाई दी है, वे हैं मुंबई से सूर्यबाला, पुष्पा भारती, अलका अग्रवाल, कविता गुप्ता, गोपाल शर्मा, मनोज शर्मा, हरीश पाठक; दिल्ली से रुपसिंह चंदेल, विजय, संदीप जोशी; कोलकाता से ममता कालिया, जीतेंद्र जितांशु; २४ परगना से माला वर्मा; कांकरोली से कमर मेवाड़ी; मसूरी से शशि भूषण बड़ोनी; फरीदाबाद से विजय, नानक चंद; छिंदवाड़ा से गोवर्धन यादव; रावतभाटा से एस. के. पोखरा; रायबरेली से राजेंद्र मोहन त्रिवेदी; राजकोट से रेणु पांड्या आदि. मैंने सबको पत्र लिख कर अपना आभार उन तक पहुंचा दिया है. यह जानकर ताज्जुब होता है कि 'कथाबिंब' का इतना विशाल पाठक वर्ग है.

सूरज प्रकाश

एच १/१०१, रिद्धि गार्डन, फिल्म सिटी रोड,
मालाड (पू.) मुंबई-४०० ०९७.

'कथाबिंब' मेरी मनचाही पत्रिकाओं में से एक है. इसकी साफ़-सुथरी सामग्री, ईमानदारीपूर्ण रचनात्मक कोशिश व बग़ैर किसी वाद से बंधे हुए सामाजिक जिम्मेदारी निभाने की प्रवृत्ति प्रभावित करती है. जनवरी-मार्च २००४ अंक में प्रकाशित 'महाभिनिष्क्रमण' कहानी देश की वर्तमान परिस्थितियों का जीता-जागता प्रतिबिंब है. इन परिस्थितियों में 'रहीम' क्या, खुद ईश्वर (यदि कहीं है) भी अवतरित होकर इस देश में रहने की सोचें, तो उन्हें भी एक स्थान से दूसरे स्थान को भागते रहने पर विवश होना पड़ेगा. या संभव है, वे आत्महत्या कर लें. लेखक के साथ-साथ संपादक-मंडल को इस कहानी के प्रस्तुतीकरण हेतु बहुत-बहुत बधाई.

सूरज प्रकाश की कहानी 'राइट नंबर, रॉन्ग नंबर' भी काबिले तारीफ़ लगी. कहानी में पर्याप्त रोमांच है. 'निर्मोही' कहानी में कतिपय अश्लील संवादों से बचने की ज़रूरत थी, वैसे कहानी अच्छी लगी.

आमने-सामने में सूरज प्रकाश की आपबीती 'रचने से बेहतर...' का तो कोई जबाव ही नहीं. उनके अद्‌भुत धैर्य, साहस, साहित्य के प्रति समर्पण व भटकाव से खुद को बचा ले जाने के सफल प्रयास प्रशंसनीय, अनुकरणीय व वंदनीय हैं. कथाबिंब परिवार के सदस्य श्री प्रबोध कुमार गोविल को निरंतर मिल रही सफलता पर, उन्हें हार्दिक बधाई.

मुन्नू लाल

ग्राम-पुरुषोत्तमपुर, पो.-सोनपुर वाया गैंसड़ी,
जिला-बलरामपुर-२७१ २१० (उ. प्र.)

"कथाबिंब" का अक्तूबर-दिसंबर २००३ अंक देखा. पत्रिका स्वयं में उत्तम रचनाओं से पूर्ववत सु-संपादित एवं सुगठित है. इसी अंक में विशेष रुप से प्रकाशित मेरी पूर्व पाठकीय प्रतिक्रिया के संदर्भ में संतोष श्रीवास्तव की पुनर्प्रतिक्रिया भी प्रकाशित हुई है. मैंने 'कथाबिंब' के प्रसंग में 'सारिका' एवं संप्रति प्रकाशित होने वाली 'हंस' पत्रिका का उल्लेख किया था, जो सामग्रियों के संचयन तथा उत्कृष्टता की कोटिगत प्रशंसा का संकेतक था.

संतोष जी की प्रतिक्रिया अच्छी लगी, किंतु सटीक और सार्थक नहीं. तुलना किसी भी वस्तु की तब की जाती है, जिसमें समानता के तत्त्व हों. मेरा आशय सामग्रियों के समाविष्ट करने की चयन-दृष्टि और शैली से था. दूसरी बात यह भी है कि किसी भी पत्रिका के संपादकमय होने का क्या मतलब ? पुन: उल्लेख करना चाहूंगा कि वर्तमान मासिक 'कादंबिनी' के पूर्व संपादक राजेंद्र अवस्थी और अब मृणाल पांडेय हैं. क्या दोनों के तेवर और शैली में अंतर नहीं है ? यह तो स्वाभाविक ही है कि सबकी अपनी-अपनी सोच और प्रवृत्ति होती है. ज़ाहिर है कि तद्वत्-छाप तो पड़नी ही है. इसमें 'मय' होने का प्रश्न ही नहीं उठता. यदि पूर्वाग्रह-ग्रस्त होकर कोई किसी संपादक विशेष पर ऐसी टिप्पणी दे तो उचित प्रतीत नहीं होता. साहित्य किसी 'वाद' विशेष और 'मय' होने की प्रतिबद्धता से मुक्त ही रहे तो श्रेयस्कर है. 'कथाबिंब' ऐसी ही पत्रिका है जो किसी सीमा में आबद्ध नहीं.

'कथाबिंब' के संदर्भ में बस पुन: इतना ही व्यक्त करना चाहूंगा कि वास्तव में यह पत्रिका श्रेष्ठ पत्रिकाओं की श्रृंखला में पंक्तिय अवश्य है. इसमें वो सब कुछ रहता है जो आम पाठकों की विभिन्न रुचियों के अनुकूल है. कहानी-प्रधान होते हुए भी इसमें गीत भी हैं, ग़ज़लें भी, लघुकथाएं भी हैं, और आत्मकथ्य भी, बातचीत भी और पुस्तक-समीक्षाएं भी. और क्या-क्या नहीं है इसमें ? प्रत्येक अंक इसका बहुरंगी तथा बहुआयामी है ही. आशा है, संतोष श्रीवास्तव मेरे इस विश्लेषण से संतुष्ट होकर अपनी पैनी दृष्टि से आश्वस्त महसूस करेंगी. तुलना तो होती ही रहेगी. साहित्य के निकष का यह पुष्ट आधार कायम रहेगा. वैसे उनकी टिप्पणी उनकी गहरी दृष्टि का संकेत दे गयी, इसमें कोई संशय नहीं. मेरी ओर से उनको साधुवाद.

डॉ. वीरेंद्र कुमार वसु,

मेन रोड, सीतामढ़ी (बिहार) - ८४३३०२

'कथाबिंब' का नया अंक मिला, एक ही बैठक में पढ़ गया. कहानियां अच्छी लगीं. आत्मकथ्य व साक्षात्कार भी अच्छे थे. कम से कम कुछ ऐसे लेखकों के बारे में पता लगा जिनसे मेरा परिचय नहीं था. दूसरी भाषाओं के लेखकों को हिंदी में लाना भी एक बड़ा कार्य है. नहीं तो ज्यादातर पत्रिकाओं में घूम फिर वही कुछ लेखक बार-बार छप रहे हैं. पत्रिका निकालते रहें.

वीरेंद्र गोयल, न्यायिक अधिकारी,

३१३/३१, एच, इंद्रलोक, दिल्ली-११००३५.

(...कुछ और प्रतिक्रियाओं के लिए कृपया पृष्ठ ५१ देखें)

कुछ कही, कुछ अनकही

कहना न होगा कि हिंदी कहानी के पाठकों के बीच पिछले २५ वर्षों में 'कथाबिंब' ने अपनी एक निश्चित पहचान बना ली है. ऐसा हमें पाठकों के असंख्य पत्रों से मालूम पड़ता है. रचनाकारों से भी हमें पूरा सहयोग मिल रहा है. 'कथाबिंब' एक कथा प्रधान त्रैमासिक पत्रिका है, कहानी के अलावा लघुकथाओं, कविता, गीत, ग़ज़लों का भी हम स्वागत करते हैं. लेखकों से निवेदन है कि कृपया पत्रिका के स्वभाव और स्तर के अनुरूप ही अपनी श्रेष्ठतम रचनाएं हमें भेजें. सामान्यतः प्रकाशनार्थ आयी कहानियों पर एक माह के भीतर निर्णय ले लिया जाता है, अन्य रचनाओं की स्वीकृति या अस्वीकृति की अवधि दो से तीन माह हो सकती है. कहानियों के अलावा चयन व पत्राचार की सुविधा के लिए एक बार में कृपया एक से अधिक रचनाएं (लघुकथा, कविता, गीत, ग़ज़लें आदि) भेजें. उत्तर पाने के लिए साथ में कम से कम पोस्टकार्ड तो अवश्य रखें. ऐसी रचनाओं पर विचार करना संभव नहीं होता जिनके साथ इस आशय का पत्र नहीं होता कि निर्णय आने तक रचना अन्य पत्रिका में विचारार्थ नहीं भेजी जायेगी.

●

अब कुछ बातें इस अंक की कहानियों को लेकर... 'कथाबिंब' की नियमित कथाकारा संतोष श्रीवास्तव की कहानी है 'शहतूत पक गये हैं'. यह एक ऐसे प्रेम की कहानी है जो परिवारों के दबाब के कारण परवान नहीं चढ़ सका. डॉ. सी. भास्कर राव की कहानी 'खिड़की' परकाया प्रवेश का प्रयास है. कल्पना लोक में विचरण के लिए हर कोई जाने-अनजाने एक 'खिड़की' की तलाश करता रहता है. 'क्या करेंगे गुहा दा !' (डॉ. विद्याभूषण) के तपन गुहा उस आम परिवार के बड़े भाई का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसने कभी अपने बारे में नहीं सोचा और अपने भाई-बहनों को पैरों पर खड़ा करने में ही सारी उम्र निकाल दी. डॉ. श्याम सखा 'श्याम' की कहानी 'क्या यह कत्ल था !' एक विचित्र स्थिति की कहानी है. एक डॉक्टर सालों साथ रहने के बाद निपट विवशतावश अपने पूरे होशोहवास में अपनी पत्नी का कत्ल कर देता है. पर शायद वह कत्ल था ही नहीं ! 'दोस्त बडोनी, तुम कहां हो !' (महावीर रवांल्टा) कॉलेज के दो मित्रों की कहानी है. पढ़ाई पूरी करके नौकरी की तलाश में शहर छोड़कर एक मित्र का चला जाना पुराने दिनों की याद ताज़ा कर जाता है. अंक की अंतिम कहानी, 'संभालिए अपना राजपाट !' (रामदेव सिंह) घर में बचपन से रहते आये नौकर की कहानी है जो पूरी तरह घर का ही सदस्य बन जाता है. लेकिन वृद्धावस्था में उसे साथ तो नहीं रखा जा सकता जबकि वह बीमार भी है . . . प्रस्तुत अंक की लगभग हर कहानी एक प्रश्न पर ख़तम होती है.

●

कई बार प्रश्न उठता है कि साहित्यिक पत्रिका में राजनीति पर टिप्पणी क्यों की जानी चाहिए ? आख़िर साहित्य समाज का ही आइना है और समाज की हर गतिविधि राजनीति द्वारा ही नियंत्रित होती है चाहे बात देश की सुरक्षा, अस्मिता की हो, कानून-व्यवस्था की हो या रोज़मर्रा के उपयोग की चीज़ों की उपलब्धि की. राजनीति हवा-पानी की तरह है जो हम सबको अनुप्राणित करती है. वर्तमान भारतीय परिप्रेक्ष्य में, जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधि ही पांच साल तक जनता के भाग्य के निर्माता होते हैं.

केंद्र में नयी सरकार को आये लगभग छः महीने हो गये हैं. अभी भी 'मधुयामिनी' चल रही है इसलिए उस पर टिप्पणी करना उचित नहीं होगा. फिलहाल तो यही समझ में नहीं आ रहा है कि सरकार कौन चला रहा है ? 'अंतरात्मा की आवाज' सोनिया जी, मनमोहन सिंह जी या कामरेड हरकिशन सिंह जी सुरजीत ! पितामह सुरजीत ने पार्टी के मुखपत्र 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' में यदि अपने लेख में लिख दिया कि अमुक व्यक्ति के संबंध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से हैं तो उसे दूसरे दिन हटाना आवश्यक है. चाहे वह कोई राज्यपाल हो या फिर अनुपम खेर. किसी की भी ख़ैर नहीं !

●

इधर एक नये मुहावरे का प्रयोग अक्सर सुनने में आ रहा है - 'राजनीति संभावनाओं का खेल' है. लोक सभा के चुनाव के साथ ही कर्नाटक की विधान-सभा के लिए चुनाव हुए. तीन बड़े दल चुनाव में उतरे थे. परिणाम वही खंडित जनादेश. किंतु भाजपा सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर आयी. महाराष्ट्र मॉडेल के आधार पर कि जिस दल के ज्यादा लोग चुनकर आते हैं मुख्यमंत्री उसका होना चाहिए, तीन सप्ताह की रस्साकसी के बाद सरकार बनी जनता दल (एस) और कॉन्ग्रेस की. किंतु जब हाल ही में चुनाव के बाद महाराष्ट्र में सरकार बनने की बारी आयी तो 'महाराष्ट्र मॉडेल' दरकिनार कर दिया गया. शरद पवार की राष्ट्रवादी कॉन्ग्रेस और कॉन्ग्रेस ने मिलकर चुनाव लड़ा था लेकिन कॉन्ग्रेस की तीन सीटें कम आयीं लेकिन काफी खींचतान के बाद मुख्यमंत्री कॉन्ग्रेस का ही बना. - यानी अट्ट भी मेरी पट्ट भी मेरी अंटा मेरे बाप का. इससे तो यही समझ में आता है कि राजनीति जन-भावनाओं से खेलने का खेल है. अब महाराष्ट्र के पूर्व 'दलित' मुख्यमंत्री आंध्रप्रदेश के राज्यपाल हैं, इस आश्वासन के साथ कि अगली बार राष्ट्रपति पद के लिए उन्हें नामज़द किया जायेगा और कर्नाटक के पूर्व मुख्यमंत्री कृष्णा महाराष्ट्र के राज्यपाल बना दिये गये हैं. कहीं का ईंट, कहीं का रोड़ा, भानुमति ने कुनबा जोड़ा, सत्ता की भूख जो न कराये वह थोड़ा.

●

शह-मात के इस खेल में आम आदमी वहीं है जहां वह पहले था. कर्ज में डूबे किसान अब भी आत्महत्याएं कर रहे हैं और भुखमरी से मर रहे हैं.

(. . . शेष पृष्ठ ५३ पर देखें)

कहानी

शहतूत पक गये हैं !

समुद्री तूफ़ान था. रातभर तेज हवाएं चलती रहीं. हवा की सांय-सांय के साथ पानी की बौछारें भी बंद खिड़की, दरवाज़ों से टकराती रहीं. मुंह अंधेरे दूध वाले की घंटी से मेरी आंख खुली. दिदिया नहीं उठीं क्या ? रोज़ तो वही दूध लेती हैं. दूध की थैली चौके में रखते हुए उनके कमरे की तरफ़ निगाह गयी. बत्ती जल रही थी. उठ तो गयी हैं वे... फिर दूध लेने क्यों नहीं आयीं ? उनके कमरे के दरवाज़े को हलके से ठेलकर मैंने अंदर झांका. वे पलंग पर बेसुध गहरी नींद में थीं. खिड़की के पल्ले भी खुले थे. बौछारों से उनका कमरा भीग गया था. बिस्तर भी, दिदिया भी. रात भर चली तेज हवाओं के संग गुलमोहर भी मानो बरसता रहा था और उसके फूल पंखुड़ी-पंखुड़ी दिदिया के बदन पर बिछ से गये थे. मैं भय से कांप उठी थी - 'दिदिया उठिए... पूरी भीग गयी हैं आप.'

मैंने उनके बर्फ़ से ठंडे हाथ पकड़कर उन्हें झंझोड़ डाला था लेकिन उनकी देह निश्चल थी, आंखें अस्वाभाविक रूप से बंद. मैं चीख पड़ी थी - 'मां... जल्दी आओ... दिदिया कुछ बोलती नहीं.'

मेरी चीख एकबारगी पूरे घर को हिला गयी. आधे घंटे बाद डॉक्टर ने आकर उनकी जांच की और धीरे से जता दिया - 'शी इज़ नो मोर... हार्ट फ़ेल्योर... डेथ तीन चार घंटे पहले हो गयी थी.'

एक सन्नाटा सा खिंच गया पूरे घर में.

दिदिया की ज़िंदगी ही सन्नाटे से भरी थी. अपनी बियाबान ज़िंदगी की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पे चलते हुए उन्होंने उम्र के बासठ साल गुज़ारे थे. पिछले पंद्रह सालों से तो वे यहां हमारे पास ही रहती थीं. दादी-बाबा अब नहीं रहे थे और उन्हें अपने सबसे छोटे भाई यानी मेरे पापा से बेहद लगाव था. दादी बताती थीं कि पापा जब छोटे थे तो उन्हें दीदी की ज़गह दिदिया बुलाते थे. तब से वे सबकी दिदिया हो गयी थीं. उनका सुंदर सा नाम दमयंती स्कूल-कॉलेज के प्रमाणपत्रों तक ही सीमित रहा. हम लोग भी उन्हें बुआ न कह दिदिया ही कहते. दिदिया ने शादी नहीं की थी. जबकि सभी चाचा, बुआओं की शादी हो गयी थी. बुआएं स्कूल की पढ़ाई पूरी कर अपने-अपने ससुराल बिदा हो गयी थीं पर दिदिया पढ़ती रहीं. एम. ए. करके वे नौकरी करना चाहती थीं पर बाबा को लड़कियों की नौकरी से सख़्त ऐतराज़ था. धीरे-धीरे न नौकरी की उम्र रही, न शादी की... पर ये रहस्य बना रहा कि उन्होंने शादी क्यों नहीं की. वो तो बहुत बाद में उन्होंने मुझे बताया कि...

तेज धूप छिटक आयी थी. रात के तूफ़ान का कहीं नामोनिशान न था. सब कुछ शांत, स्थिर सा... नीचे सड़क पर ओर-छोर गुलमोहर के फूलों की पंखुड़ियां, टूटे पत्ते फैले थे. कई पेड़ों की टहनियां टूटकर पेड़ों में ही झूल रही थीं. शहर जाग चुका था. मां ने दिदिया का भीगा गद्दा, चादर बाल्कनी की मुंडेर पर धूप में सूखने के लिए डाल दिया था. दिदिया फ़र्श पर चटाई के ऊपर सफ़ेद चादर ओढ़े अंतिम यात्रा के लिए तैयार लेटी थीं. उनका गोरा खूबसूरत चेहरा अभी भी जीवंत लग रहा था. बड़ी-बड़ी पलकें मानो असीम सुख से मुंदी थीं. यह मुट्ठी भर सुख मिला होगा उन्हें खिड़की से आती बौछारों से, बदन पर सजते गुलमोहर के फूलों से... प्रकृति के बहुत अधिक निकट थीं वे. पानी से उन्हें गहरा लगाव था.

संतोष श्रीवास्तव

बौछारों के जल में भीगते हुए उन्होंने मौत को बहुत संतुष्टि से गले लगाया होगा. कैसी शांति से मरी वे... न अस्पताल की भागदौड़... न सेवा टहल... खिड़की से आता पानी उन्हें तृप्त करता रहा. ज़िंदगी से ही मुंह मोड़ लिया.

बाबा के घर में आंगन में बीचो-बीच कुआं था. दिदिया कुएं से पानी खींच-खींच कर अपने हाथों लगायी फूलों और सब्ज़ियों की क्यारियों को लबालब सींच डालतीं. एक भी पौधा सूखता या मुरझाता दिदिया उदास हो जातीं. वे पौधों को हाथों से सहलाकर उनसे बातें करतीं. आकाश में घुमड़ते बादलों को देख कहतीं - 'बिन बरसे मत लौट जाना... मेरे सारे पौधे बहुत आस से तुम्हें देख रहे हैं.' कई-कई दिन के लिए जब बादलों की झड़ी लगती तो वे झुंझला जातीं - 'अब कितना बरसोगे ? मुंह उठाये बरसते ही चले जा रहे हो ?'

लेकिन उस बरसते पानी को वे व्यर्थ नहीं जाने देतीं. आंगन में खंभों के सहारे चादर बांध कर उसके नीचे घड़ा रख देतीं. चादर में बीचो-बीच लुढ़िया. सारा पानी धार बनकर घड़े में गिरता जाता. बरसात भर वही पानी पिया जाता. उसी से खाना बनता. और उसी पानी से दिदिया अपने बाल धोतीं. उनके लंबे-लंबे बाल रेशम से मुलायम हो जाते. दादी कहतीं - 'मंगली है न... इसीलिए शादी नहीं हो पा रही है.'

ऐसा नहीं था कि उनके लिए लड़के देखे नहीं गये. पर वे ही नाक-भौं सिकोड़ती रहीं. उनका मन लगता पढ़ाई में. ढेरों किताबें

पढ़ डाली थीं उन्होंने. एक बड़े से रजिस्टर में हर किताब की समीक्षा लिखी थी उन्होंने. पर कभी छपवायी नहीं. जो भी क़िताब पढ़ चुकी होतीं उसमें एक पीला गुलाब दबा देतीं. अक्षरों की रोशनाई में एक पीली उजास लरज कर थम जाती, दब जाती. फिर वे हफ़्तों गुनगुनाती रहतीं. उन्हीं ने मुझे सिखाया - 'देख रूना... अपनी ज़िंदगी फालतू के शौकों में मत बरबाद कर डालना. गहनें, कपड़े, साजसिंगार तो हर आम औरत करती है. तू ख़ास बनना.'

फिर चमड़े की छोटी अटैची खोलकर डाक टिकटें दिखातीं. ढेरों टिकटें, देश विदेश की. उनमें से एक टिकट छांटकर दिखातीं - 'ये बड़ी रेयर टिकट है. इसे प्रथम चंद्रयात्री नील आर्मस्ट्रांग ने चंद्रमा की सतह पर बनाया था. यह नीली गोल गेंद हमारी धरती है.'

मैं आश्चर्य से उनकी चमकती आंखें और उंगलियों में फंसी टिकट देखती रह जाती. वे मखमल का उन्नावी रंग का बटुआ खोलतीं - 'और ये दुनिया भर के सिक्के... ये आस्ट्रेलिया का तांबे का सिक्का और उस पर दौड़ता कंगारू ... रूना, इनकी देखभाल साज संवार में मुझे तो कभी अकेलापन नहीं सालता.'

जानवरों से दिदिया को बहुत प्यार था. कुत्ता, बिल्ली उन्होंने खुद पाले थे. आंगन में फुदकती गौरैया चिड़ियाएं भी उनके हाथ से दाना चुगतीं और सेम, तोरई के मंडप के नीचे रखी पत्थर की कुंडी में से पानी पीतीं. दिदिया सुबह कुंडी धोकर उसमें पानी भर देती थीं. बगीचे में अगर गाय-भैंस घुस गयी और पानी से भरी बाल्टी में उन्होंने मुंह डाल दिया तो वे कभी भगाती नहीं थीं. पानी भरपेट पीने देतीं उन्हें. दादी कहतीं - 'ये तो पानी की जीव है... ग़लती से मनुष्य योनी में जनम ले लिया.'

सचमुच नर्मदा नदी में घंटों तैरकर भी वे कभी नहीं थकती थीं. मैं किनारे बैठी रहती तो कहतीं - 'देख रूना... मैं डूबी.' और जो डुबकी मारतीं तो मेरी तो सांस ही रुक जाती. लगता उन्हें डूबे घंटों बीत गये... कुछ पल भारी पड़ जाते मेरे लिए. जब वे छः बरस की थीं तो बाबा ने उन्हें तैरना सिखाया था. वे लहरों पर बत्तख़ की तरह तैरतीं. बाबा उन्हें बत्तख़ ही तो कहते थे. पर वहां नदी थी, कुआं था, भरपूर पानी... पानी ही पानी. लेकन ये ठहरा महानगर. पानी टैंकर से आता है. सात मंजिल की इस इमारत में अभी तक नगर निगम का पानी नहीं आया. टैंकर से छत की टंकी भर कर फिर पानी छोड़ा जाता है. हर, फ्लैट के अलग-अलग मीटर हैं. जितना पानी ख़र्च करो उतना पैसा भरो. दिदिया का हाथ पानी के मामले में खुला है. अब बिल दुगना आता है. पापा झल्लाते - 'दिदिया, काहे को इतना पानी ढुलकाती हो. ये महानगर है. यहां बूंद-बूंद पानी की कीमत है. थोड़ा कम पानी इस्तेमाल किया करो.'

दिदिया हंस पड़तीं - 'लो, पानी न हुआ घी, दूध हो गया.'

'घी दूध ही समझो जीजी... इतना पानी ख़र्च करोगी तो एक दिन नहाने को भी तरस जाओगी. मां ताना मारतीं.'

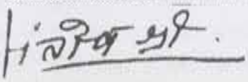

'कथाबिंब' की नियमित कथाकार

अब इस समय बड़े-बड़े दो ड्रम लाकर बाल्कनी में रख दिये गये हैं. सोसायटी ने दो घंटे ज्यादा पानी छोड़ा है. नाते-रिश्तेदारों से घर भर गया है. जो जितना चाह रहा है पानी इस्तेमाल कर रहा है. अब कौन रोके टोके उन्हें. मातम का माहौल है पर मेरा मन मसोस उठा है... दिदिया कबूतरों तक को पानी पिलातीं तो मां टोक देतीं. बाल्कनी में सुबह शाम झुंड के झुंड कबूतर आते. दिदिया का नियम था किलो भर ज्वार बाल्कनी में बिखेरतीं और तसला भर पानी रखतीं. सड़क के कुत्ते भी उनसे लहट गये थे. वे उन्हें बिस्क़िट, दूध पानी देतीं. इस बढ़े हुए खर्च को वे ट्यूशन करके पूरा करतीं. रोज़ शाम चार-पांच लड़कियां उनसे हिंदी संस्कृत पढ़ने आतीं... उनका मन बड़ा रमता लड़कियों के बीच.

दिदिया ने आगे-पीछे दोनों तरफ़ की बाल्कनियों में फूलों के पौधे लगाये थे. सुबह शाम गमलों में पाइप से पानी सींचती वे. फिर गमलों से बहे पानी, मिट्टी, सूखे फूल-पत्तों को वे धोकर बाल्कनी साफ़ कर डालतीं. कितना पानी बरबाद होता, रोज़ ही इसका हिसाब सुनाया जाता उन्हें.

'यह फ़िजूल का ख़र्चा है पानी का. थोड़े से फूलों के लिए इतना पानी !!! दिदिया, महानगर में महानगर की तरह रहना सीखो.'

एक दिन झल्ला पड़ीं वे - 'हम तो जैसे रहते आये हैं रहेंगे... हमारे मरने के बाद तुम हमारी अस्थियां सूखे कुए में झोंक देना.'

हमेशा मुस्कुराने वाली बेहद नरम दिल दिदिया के मुंह से ऐसी, कठोर बात मैंने पहली और आख़िरी बार सुनी. हालांकि इसके बाद पापा ने उन्हें हुलसकर सीने से लगा लिया था और वे रो पड़ी थीं.

उस दिन भी बहुत रोयी थीं वे जब उनकी क़िताब पढ़ते हुए अचानक हाथ आयी एक तस्वीर मैंने उन्हें दिखाते हुए पूछा था - 'दिदिया, ये कौन हैं ?'

वे झपट कर उठीं और तस्वीर मेरे हाथ से छीन लीं - 'ये कहां मिली तुझे ?'

मैं घबरा गयी. अपराधी मुद्रा में मैंने सिर झुका लिया - 'सॉरी दिदिया.'

उन्होंने प्यार से मुझे चूम लिया - 'पगली... मेरे जैसा भावुक दिल लेकर कैसे रहेगी तू... यह दुनिया हम जैसों की नहीं रूना...'

देर तक वे मेरा चेहरा अपनी हथेलियों में भरे रहीं. हिम्मत कर मैंने उनके चेहरे की ओर देखा... बड़ी-बड़ी काली आंखों में आंसू भरे थे जो, अब ढुलकना ही चाहते थे. 'ये जगदीश है रूना...'

उनकी आवाज जैसे किसी सुरंग से आ रही हो... उनका चेहरा रक्तिम हो उठा जैसे रात के आगोश में जाने से पहले सूरज का हो जाता है. वे पलंग से टिककर बैठ गयीं. आंखों में दबे सपने पलकें उघाड़कर बाहर छिटक आये.

'हम दोनों जैसे एक दूसरे के लिए ही बने थे. बरसों बरस एक दूसरे के लिए गुज़ारे हमने. अपने पूरे जीवन को खंगाल, छान कर हमने एक दूसरे के लिए साझा सपना रच लिया था. वह सपना हर वक़्त हमारी आंखों में मुस्कुराता रहता. उसी सपने को हम ओढ़ते, उसी को बिछाते थे. उसी से तृप्त होते, उसी की आस में जीते थे कि कभी हमारा घर होगा... प्यार ही प्यार होगा जहां और हमारे बच्चों की किलकारियां होंगी पर... वह फौज़ में था. चीन के साथ युद्ध में उसे फ्रंट पर जाना था. मैं ज़िद पर अड़ गयी कि वहां जाने से पहले हम शादी कर लें. पर इन्कारी मिली दोनों परिवारों की ओर से. एक तो जाति दूसरी थी फिर मैं मंगली... उसके घर से संदेशा आया कि हम क्या जवानी में ही अपने बेटे को मौत का रास्ता दिखा दें ? बाबू ने भी उत्तर भिजवा दिया कि हमें भी कोई शौक नहीं है बेटी को विधवा करने का. वह जिद्द ही जिद्द में फ्रंट पे चला गया कि, 'तुम सबके लिए ज़िंदगी शहीद करने से तो अच्छा है देश के लिए शहीद हो जाऊं.'

वह चला गया. मेरा मन तड़प उठा... फिर भी मैं उसका इंतज़ार करती रही. युद्ध समाप्त होने के बाद जब वह लौटा तो उसका दायां पैर कटा हुआ था. बैसाखियों के सहारे चलकर मुझसे मिलने आया. कहने लगा - 'तुम शादी कर लो दमयंती. मेरी ज़िंदगी तो बोझ बन गयी है. मैं तुम्हें कोई सुख नहीं दे पाऊंगा.'

'मैं जानती थी, तुम यही कहोगे. लेकिन मेरी कई-कई रातों की प्रतीक्षा का क्या ज़वाब है तुम्हारे पास ? जब हर सांस मैंने तुम्हारे लिए जी है. तुम कहा करते थे कि कोई भी सपना ज़िंदगी से बढ़कर नहीं होना चाहिए. और विश्वास ? विश्वास का महत्व तो तभी है न जगदीश जब वह स्वयं ज़िंदगी से ऊपर हो. तुम मेरा विश्वास हो जगदीश.'

उसके होंठ कांपने लगे पर वह रोया नहीं. हम देर तक ख़ामोश एक दूसरे की ओर देखते रहे. चांदनी की किरणें हमारे पैरों से लिपटती रहीं.

बाबू ने एक सामंती घराने में मेरे रिश्ते की बात चलायी. उन्हें वारिस चाहिए था और मैं इस शर्त के लिए तैयार नहीं थी.. यह शर्त मेरी इन्कारी की वज़ह बन गयी. बाबू कठोरता से बोले - 'क्यों उस लंगड़े के लिए अपनी ज़िंदगी बरबाद करने पर तुली है ?'

मैं फूट फूट कर रो पड़ी. लंगड़ा वह नहीं है बाबू... 'लंगड़ी तो आपकी बेटी हो गयी है', मैंने कहना चाहा था. मैंने अपने आपको जगदीश के बिना अगरबत्ती की तरह आहिस्ता-आहिस्ता जलने को तैयार कर लिया था. कोई नहीं जानता रूना कि बाबू की मृत्यु के बाद जगदीश ने मेरा कितना साथ दिया. उस विशाल घर में मैं अकेली और छः बरस तक अपनी जानलेवा बीमारी से खटिया भोगती अम्मा. उनके इलाज में वे सारे ज़ेवर एक-एक कर बिकते गये जो अम्मा ने मेरी शादी के लिए गढ़वाये थे. ऐसा नहीं कि भाई मदद नहीं करते थे पर कितना करता ! उनके अपने परिवार, अपने ख़र्चे... पर जगदीश. वह तो किसी और ही मिट्टी का बना था. बैसाखियों के सहारे अस्पताल के चक्कर लगाता. दवा, फल... एक दिन भी मुझे कहना नहीं पड़ा कि फल, दवा ख़तम हो गयी है.

अब हमने अपने लिए सोचना छोड़ दिया था. मान लिया था कि हम मिलने के लिए नहीं बने हैं. जब तक सांस है जीना है, वरना ज़िंदगी के कोई मायने नहीं रह गये. जगदीश नौकरी पाने के लिए तड़पता रहा पर अब वह न फौज़ के लायक था, न नौकरी के. मां-बाप भी कितने दिन खिलाते ? कभी-कभी मन होता हम साथ-साथ रहें पर जो काम बाबू के सामने नहीं हो सका उसे उनकी मृत्यु के बाद अंजाम देना ! नहीं, यह ज़िंदगी अब हमारी नहीं रही... बस शाप ढोना है... अंतिम सांस तक.

उस दिन जगदीश मिठाई का डिब्बा लिये आया - 'लो, मुंह मीठा करो. लग गयी नौकरी.'

'अरे ! कहां ?' मुझे लगा ज़िंदगी किसी मोड़ पर तो ठिठकी. पैरों के नीचे मानो मख़मली पंखुड़ियां बिछ गयीं.

'उत्तरांचल के एक फौजी स्कूल में मेस इंचार्ज की. कुर्सी पर बैठे-बैठे बस हुकुम चलाना है.'

मैं उदास हो गयी - 'तो तुम चले जाओगे यहां से ? फिर मैं किसके सहारे जिऊंगी ?'

'मैं कहां जा रहा हूं ? ये लंगड़ा शरीर जा रहा है. मैं तो तुम्हारे संग हूं - हमेशा.'

जगदीश ने नौकरी का अपॉइन्टमेंट लेटर निकालकर दिखाया. मैंने कागज़ हाथ में लिया पर पढ़ा नहीं. जानती थी वह कागज़ नहीं एक संधीपत्र है जिसमें हम दोनों की बरबादी का इक़रारनाम लिखा गया है और हम दोनों की ज़िंदगियों ने जिस पर बरसों पहले हस्ताक्षर कर दिये थे.

उसी रात अम्मा चल बसीं. बैसाखियों को फ़र्श पर टिकाये वह रात भर अम्मा की लाश के सिरहाने दीपक की बत्ती उकेसाता बैठा रहा जब तक कि सुबह सब आ नहीं गये. और फिर सब कुछ छूट गया. वह घर, उस घर से जुड़ी तमाम यादें, वह बगीचा... वे मेरे पक्षी, जानवर, नदी, कुआं और जगदीश... जगदीश अक्सर

एक पठानी गीत गाता था... फौज़ से सीखकर आया था. गीत के अर्थ तो मुझे समझ में नहीं आते थे पर वह हर पंक्ति के बाद उसका अर्थ समझाता 'घने जंगल में मजनूं रो पड़ा है क्योंकि शहतूत पक गये हैं और लैला मर गयी है.'

उत्तरांचल में जाने से पहले जगदीश ने भी शहतूतों का पकना ज़रूर देखा होगा.

और दिदिया फूट-फूट कर रो पड़ी थी. उन्होंने उड़ना चाहा था पर अपना आसमान तय नहीं कर पायीं वे.

❑

दिदिया का अस्थि कलश लाल कपड़े में लिपटा रखा है. मैंने पापा से ज़िद्द की - 'मैं भी हरिद्वार जाऊंगी.'

उन्होंने मौन स्वीकृति दे दी. मैंने उनकी किताब में रखी जगदीश की तस्वीर और वे तमाम पन्नों में दबे रखे सूखे फूल उन्हीं के रूमाल में बांध लिये जो निश्चय ही जगदीश और उनके प्रेम विह्वल क्षणों के साक्षी रहे होंगे. मां ने पापा के नज़दीक आकर कहा - 'दान-दक्षिणा में कमी मत करना. ज़िंदगी भर जीजी कमियों में ही जीती रहीं. ईश्वर ऐसा नसीब किसी का न बनाये.' और वे सुबकने लगीं. पापा ने उनके कंधे थपथपाये और हम सब स्टेशन के लिए रवाना हो गये.

छल-छल बहती गंगा का तीव्र प्रवाह जुहू बीच के सागर के पानी जैसा मटमैला था. तो क्या गंगा मैया जान गयी हैं कि दिदिया को जुहू बीच पर उमड़ी आती सागर की लहरों में चलना अच्छा लगता था. फेनिल लहरें दिदिया को घुटनों तक भिगो देतीं. लेकिन वे तब तक लहरों में खड़ी रहतीं जब तक सूरज का अंगारा सागर की छाती में बुझ नहीं जाता. फिर वे उदास हो जातीं... धीरे-धीरे पांव पसारते अंधेरे को आत्मसात करना उनके लिए कठिन था.

'गोमुख में पहाड़ गिर गया है... उसी की मिट्टी बह रही है गंगा जल में'.

हर की पौड़ी में मटमैली गंगा के तीव्र प्रवाह में हिचकोले लेती नौका पर पापा, चाचाओं के संग मैं बैठी हूं. बीच में अस्थि कलश. गेंदे की माला अस्थिकलश से लिपटी है. पंडित साथ में है. मल्लाह ने नाव गंगा के बीचो बीच रोक दी. पंडितजी मंत्र पढ़ने लगे और सबने मिलकर कलश लहरों पर छोड़ दिया. मैंने सबकी नज़रें बचाकर ऐन तभी रूमाल से बनी पोटली गंगा में छोड़ दी. पोटली में जगदीश की फोटो और सूखे फूल थे. पोटली कलश से चिपक कर बहने लगी. जब कलश का मुंह पानी से भर गया तो वह तिरछा होकर नदी में समाने लगा. उसकी माला में अटकी पोटली भी कलश के संग ही नदी में समाने लगी. दिदिया गहरे डूबती चली गयीं. अपने प्रेम के संग आहिस्ता-आहिस्ता. अब उन्हें पानी की कोई कमी नहीं रहेगी. अब उनके मंगली होने को कोई नहीं कोसेगा. अब चारों ओर गहरा जल ही जल है, दिदिया कहीं

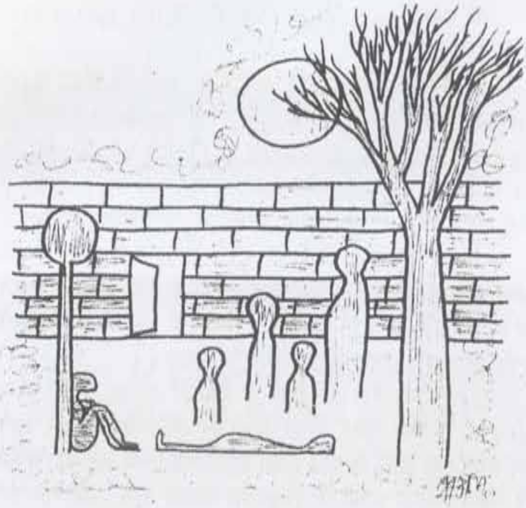

नहीं. गंगा की लहरों पर मानो शहतूत ही शहतूत उग आये हैं... पके फलों से भरे... 'जगदीश ! तुम्हारी दमयंती मर गयी... मुझे लगा जगदीश घने जंगलों में नहीं बल्कि गंगा के अथाह जल में समाता जा रहा है दिदिया से मिलने... मैं पापा से लिपट कर रो पड़ी. सभी खामोश आंसू बहा रहे थे. जब नाव किनारे लगी, अंधेरा हो चला था.

❑

दिदिया को गये महीना गुज़र गया. उनके कमरे का सन्नाटा अक्सर मुझे गहरे छील डालता है. हालांकि सब कुछ वैसा ही चल रहा था जैसा तब होता था जब वे थीं. मुझे लगा था पानी की फिज़ूलख़र्ची को लेकर सबने राहत महसूस की होगी. लेकिन पूरे घर को हो क्या गया है आख़िर ? सब दिदिया की तरह क्यों जीने लगे हैं ? पापा दिदिया के लगाये पौधों को उसी तरह पाइप से बिला नागा सींचते हैं, रगड़-रगड़ कर बाल्कनी धोते हैं. कबूतरों के लिए तसला भर पानी और किलो भर ज्वार बिखेरने की ड्यूटी भी वे बखूबी निभाते हैं. मुझसे कहते हैं - 'जा रूना... सड़क के कुत्तों को दूध बिस्किट खिला आ.'

अपनी सफ़ेद कमीज़ मां को दिखाते हुए कहते हैं - 'कैसी धोयी है तुमने... पीलापन लिये है... साबुन की बास भी भरी है. ऐसी भी क्या पानी की कंजूसी ? दिदिया जैसी धोया करो.'

मैं सामने दीवार पर टंगी दिदिया की तस्वीर के आगे फुसफुसाती हूं - 'तुम मरी नहीं दिदिया... जल बन ज़िंदा हो हमारे बीच.'

बी-७०२, निर्मल टॉवर,
गौरव गैलेक्सी फेज़ २ के पीछे,
मीरा रोड (पूर्व), थाणे - ४०११०७

खिड़की

डॉ. सी. भास्कर राव

वह अपने ड्राइंग रूम में बैठ, चाय की चुस्कियां लेते हुए, अख़बार उलट रहा था कि तभी, सामने वाले घर के आगे एक ऑटो रुका और युवा दंपति उससे उतरकर, घर के भीतर चले गये. उनका चेहरा तो वह ठीक से नहीं देख पाया, पर उसे लगा कि वे बहुत मौज के मूड में हैं. उनको लेकर उसकी उत्सुकता तथा उत्साह जैसे उनके साथ ही एकाएक लौट आया. उसकी भेदी नज़रें उस घर की ओर पुनः लग गयीं, ख़ासकर घर की खिड़की की ओर. उसे लग रहा था कि खिड़की बस अब खुली कि तब. चाय पीना और अख़बार पढ़ना भूल कर उसी ओर मुड़कर जम-सा गया. दरअसल उसे काफी दिनों से उनका इंतज़ार था, उनके घर खुलने तथा विशेष रूप से खिड़की खुलने का, जो निश्चय ही उनके बेडरूम की खिड़की थी. उसकी सघन रुचि उस दंपति में थी तथा उसका तीव्र ध्यान उस खिड़की पर लगा रहता था, जो संयोग से, उसके ड्रॉइंग रूम के ऐन सामने पड़ती थी, जहां बैठकर, बड़ी आसानी और इत्मीनान से वह खिड़की पर अपनी नज़रें जमा सकता था. यदि खिड़की का पर्दा ज़रा भी सरका हो तो भीतर के क्रियाकलापों का ज़ायज़ा वह सुविधापूर्वक ले सकता था. यों इस खेल में वह इतना कुशल हो चुका था कि अगर पर्दा ढका भी हो तो पर्दे के पीछे की गतिविधियों का सहज अनुमान वह लगा लेता था.

उनके घर की खिड़की प्रायः रातों को बंद ही रहती थी, जो स्वाभाविक था, क्योंकि दंपति नयी थी, यानी उनका विवाह शायद कुछ समय पहले ही हुआ था और वे सामने वाले घर में रहने आये थे. तभी से वह उन्हें लेकर व्यस्त हो उठा था. जैसे उसे एक ज़रूरी काम मिल गया था. समय काटना अब उसके लिए समस्या नहीं रह गयी थी. खिड़की खुली और बंद, दोनों तरह से उसके लिए गहरी जिज्ञासा का केंद्र बन चुकी थी. रात को खिड़की के बंद होने से उसे खीज होती थी. खुली ही रहती तो शायद वह रात भर भी बैठा ही रहता कि शायद उसकी नज़रों को कोई निवाला मिल जाय. उसकी बड़ी इच्छा होती थी कि काश, रात को भी खिड़की खुली रहती, पर्दा सरका होता. भीतर जीरो पॉवर की सही रोशनी होती तो उसकी रात भी दिन की तरह कटती. पर ऐसा होता नहीं था. पर ऐसा होना शायद अब उसके लिए बहुत ज़रूरी भी नहीं रह गया था, इसलिए कि खिड़की के उस ओर जो कुछ हो रहा होता उसका अंदाजा लगाना, बल्कि अपनी भीतरी तथा भेदिया नज़रों से सब कुछ देखना-भांपना-सूंघना तक उसके लिए अधिक मुश्किल नहीं रह गया था. वह आसानी से वहां तक पहुंच सकता था, उसमें शामिल भी हो सकता था. तसल्ली की बात यह थी कि सुबह खिड़की खुल जाती थी. कई बार वे पर्दा सरकाना शायद भूल जाते थे और वह एकटक उधर देखने में लीन हो जाता था. मजे की बात यह है कि उसे ऐसा कुछ दिख जाता था, जो उसके देखने को सार्थक बना देता था, इससे उसे बड़ा सुख-संतोष मिलता था. जैसे दिन भर की ख़ुराक मिल जाती थी, जो ज़ाहिर है कि उसकी जिज्ञासा तथा आकर्षण को और बढ़ा देता था.

जब से वे उसके सामने वाले घर में रहने आये थे, उसकी दिनचर्या यही बन गयी थी. पति के दफ़्तर जाने के बाद, चूंकि उसकी युवा, सुंदर बीवी घर में अकेली रह जाती थी, इसलिए वह मानसिक रूप से अधिक सक्रिय हो उठता था. उसकी नज़रें पल भर के लिए भी, खिड़की से हटती नहीं थीं. उसकी अपेक्षा के अनुरूप कुछ ख़ास नहीं दिखने पर भी, उसकी टोही नज़रें उसे अपने अनुकूल कुछ ऐसा दिखा ही देती थीं कि वह सिहरन और उत्तेजना से भर उठता था. उसके अनुमान और उसकी कल्पना, दिन-रात, बेरोक-टोक खिड़की से आर-पार होती रहती थी. यह एक दुर्लभ संयोग था कि सामने वाला घर जब खाली हुआ, तो उसमें रहने आया, यह नवविवाहित जोड़ा, जो और जिनकी खिड़की उसके कौतूहल और आकर्षण का विषय बने. शुरू-शुरू में वह खिड़की खुली हो, उसका पर्दा सरका हो, भीतर की कुछ-कुछ झलकियां दिखती हों, तभी उसे आनंद आता था. पर अब वह इतना पक चुका था. उसके अनुमान इतने पुख़्ता, कल्पनाएं इतनी पुरज़ोर हो चुकी थीं कि, खिड़की खुली हो या बंद, उसे उनके बीच पहुंचने में कोई कठिनाई नहीं होती थी. यहां तक कि पति घर में मौजूद हो या न भी हो, वह उसकी युवा-सुंदर पत्नी के साथ खुद को हर स्तर पर जोड़ लेने में माहिर हो चुका था. वह बड़ी आसानी से, पूरे प्रकरण से पति को दरकिनार करके, उसकी ज़गह स्वयं को स्थापित कर लेता था. दिन भर खिड़की का खुला रहना उसके लिए राहत की बात थी. रात को खिड़की के बंद होने के कारण, देर रात तक उसकी कल्पना अपनी उड़ानें भरती रहती थी, पर वह उड़ान उसके ड्राइंगरूम से लेकर उनके बेडरूम तक ही सीमित

होती थी. जब से वे लोग उस घर में रहने आये थे, उसने अपने बेडरूम में सोना छोड़ दिया था. वह कोई भी मौका खोना नहीं चाहता था. मौका यदि न भी मिले तो बलात निकाल लेता था. उसे बेहद खुशी होती थी कि उसके अनुमान इतने सही और उसकी कल्पनाएं इतनी सटीक होती हैं.

खिड़की, युवा दंपति, भीतर-बाहर के क्रियाकलाप. उसके अनुमान-कल्पना के समूचे प्रसंग में रुकावट तब पैदा हुई, जब वे, उस घर में आने के बाद पहली बार कहीं बाहर गये. उसे कोई संदेह नहीं था कि वे लोग हनीमून पर गये होंगे. वे हनीमून पर कहां-कहां जा सकते हैं, इसका भी काफी कुछ अंदाज उसे था. उसने मानसिक रूप से उनका पीछा भी किया, पर उसे विशेष आनंद नहीं आया. इसलिए कि उस पूरे प्रसंग में कहीं खिड़की नहीं थी और शायद इसीलिए वह खुद भी वहां हो नहीं पा रहा था. उसके लिए खिड़की निहायत ज़रूरी थी, चांहे बंद या खुली. पहले दो-एक दिन वह कुछ मायूस रहा, जैसे उन्होंने जाकर सही नहीं किया, वरन उसके साथ अन्याय किया. पर फिर उसने खिड़की से जुड़ा एक नया अध्याय खोल लिया. उसने बंद खिड़की को खोलकर, उनके बेडरूम में जाना शुरू कर दिया. उनकी अनुपस्थिति में उनका बिस्तर छूना, चादर की सलवटें सहलाना, उस पर लेटना-लोटना उनके तकिये सूंघना, उसका नया शगल बन गया. उनकी गैरमौजूदगी में उनके बेहद अंतरंग तथा अभिन्न संबंधों की तहों को उघेड़ने में उसे एक नये तरह के रहस्य-रोमांच का अनुभव होने लगा. यह उसके लिए एक सघन शोध का विषय बन गया. इस शोध में वह जितने गहरे उतरता गया, उसकी तृप्ति उतनी ही बढ़ती गयी. यह उसके लिए एक अतिरिक्त अभ्यास की बात थी, इसलिए वह बड़ी बेचैनी के साथ उनका इंतज़ार कर रहा था कि वे लौटें तो उसका पुराना सहज, संभावनापूर्ण, अभ्यस्त, अनुमानजनक अध्याय, पुनः शुरू हो जाय और वह इस अतिरिक्त खोज से निजात पाये. इस खोज को बहुत लंबा खींचना शायद उसके लिए संभव नहीं था. वह अपने आनंद के लिए इतना श्रम करने के लिए तैयार नहीं था. उस दंपति के सशरीर घर में और खिड़की पीछे होने की बात ही और थी, इसलिए उसके इंतज़ार की तीव्रता बढ़ती जा रही थी.

आख़िर उसका इंतज़ार पूरा हुआ. वे आ चुके थे और यह उसके लिए बड़ी तसल्ली की बात थी. उनका घर फिर खुल चुका था तथा वह आश्वस्त था कि खिड़की भी खुलनी ही है. खुलने का उसके लिए मतलब था पुनः दो युवा देहों का अस्तित्व में आना, उनके बीच देह भाषा का पुनःप्रवाहित होना. उसे भी उनके साथ ही उसमें प्रवाहित होना था. कभी दोनों के बीच या पीछे या कभी, सिर्फ़ युवा, सुंदर पत्नी के साथ या फिर उसके आसपास. वह निश्चित था कि वे हनीमून से ही लौटे होंगे, इसलिए स्वाभाविक है कि उनमें अंतरंगता बढ़ी होगी. वे अधिक रोमांटिक हुए होंगे. उनके बीच देह संबंधों के नये अछूते आयामों का विकास हुआ होगा, तथा यह सब उसके लिए बरास्ते खिड़की और भी आनंददायक, अह्लादक, उत्तेजक, उत्साहजनक था. चूंकि अब पुराना अध्याय नये रंग रूप में फिर शुरू होने वाला था, इसलिए उसने अपने को उनकी खिड़की की ओर स्थिर कर लिया और अपने अनुमान तथा कल्पना को बेलगाम छोड़ दिया. उसका अंदाज

सी. भास्कर राव

२२ सितंबर, १९४१

एम. ए., पी-एच. डी. (हिंदी), मातृभाषा : तेलुगु

लेखन : *दो सौ के लगभग कहानियां, चार सौ के लगभग व्यंग्य, अनेक फिल्म, नाटक तथा पुस्तक समीक्षाएं, आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रो से सौ के लगभग नाटक, वार्ताएं, कहानियां. एक स्थानीय समाचारपत्र में दस वर्षों तक व्यंग्य लेखन-कॉलम. ऑडियो-वीडियो संबंधी मीडिया के लिए कुछ आलेख एवं आवाज.*

प्रकाशन : *"दिशा", "शोध", "संघर्ष" (उपन्यास); "आतंक तथा अन्य कहानियां", "विशिष्ट कहानियां" (कथा संग्रह); "संसद में सोने का सुख", "जय श्री राजनीति", "देश को दुलत्ती", "भारत भ्रष्ट महान्", "श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं", "किस्सा कुर्सी का", "बियाबान से बिकनी तक", "झक मारने की कला" (व्यंग्य संग्रह).*

सम्मान : *तुलसी-सम्मान, नाट्य विधा-सम्मान, हिंदी सेवी-सम्मान, नाट्य-श्री सम्मान, नाटककार सम्मान, पंडित रामानंद शर्मा स्मृति सम्मान, चाईबासा रत्न सम्मान, आचार्य शशिकर स्मृति सम्मान.*

पुरस्कार : *स्वामी प्रणवानंद पुरस्कार, कमल जोशी पुरस्कार, राधाकृष्ण पुरस्कार, अहिंदी भाषी हिंदी लेखक पुरस्कार.*

विशेष : *दूरदर्शन, रंगमंच, आकाशवाणी, फिल्म सोसायटी, कला-संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय.*

संप्रति : *अवकाश प्राप्त प्राध्यापक, को-ऑपरेटिव कॉलेज, जमशेदपुर, रांची विश्वविद्यालय.*

था कि चूंकि घर कई दिनों के बाद खुला है, इसलिए खिड़की भी हर हालत में खुलेगी ही. पर उसे बेहद ताज्जुब हुआ कि दिन भर वह बंद ही रही. उसे काफी कोफ़्त हुई लगा कि ऐसा नहीं करना चाहिए था. आख़िर इतने दिनों से बंद खिड़की खोलनी ही चाहिए थी ताकि अंदर की गंध बाहर निकले तथा बाहर की हवा अंदर जाये. नहीं हवा, तो कम से कम उसकी नज़रों को इतनी छूट मिलनी ही चाहिए, ख़ासकर इतने इंतज़ार के बाद कि वे खिड़की थाम सकें और झांक सकें, पर उसकी सारी खीज के बावजूद खिड़की नहीं ही खुली. उसे शक हुआ कि कहीं उन्हें यह पता तो नहीं लग गया कि किसी ने उनकी अनुपस्थिति में उनके घर में किसी भी तरह तथा रूप में घुस कर उनकी चीज़ें उलटी-पलटी हों, देखा-सूंघा हो ! पर फिर उसे लगा कि उन्हें इतनी फ़ुरसत कहां की इसमें उलझें. वे तो अपने में ही व्यस्त-मस्त होंगे. आज ही तो आये हैं, पति को दफ़्तर भी आज नहीं ही जाना होगा, दोनों के बीच हनीमून की सुखद स्मृतियां होंगी, रोमांच-रोमांस होगा, तो ज़ाहिर है कि कम से कम आज एक नया अंदाज और आस्वाद मिलेगा. इसी उम्मीद में वह सुबह से शाम तक, शाम से रात तक खिड़की के खुलने का इंतज़ार करता रहा. उसके खुलने की प्रतीक्षा. प्रतीक्षा की उत्तेजना इतनी बढ़ती जा रही थी कि वह तनावपूर्ण होता गया, नतीज़ा यह हुआ कि उसकी भीतरी भेदिया नज़रें भी आज उस बंद खिड़की को अपने भीतर खोलने में कामयाब नहीं हो पा रही थीं. इसलिए उसकी कल्पना, उसका अनुमान भी साथ नहीं दे पा रहे थे और वे बड़ी बेचारगी के साथ खिड़की के बाहर ही चक्कर काट रहे थे.

शाम डूबने के बाद अचानक उसने देखा कि पति ने अपना स्कूटर बाहर निकाला. पत्नी भी बाहर आयी और स्कूटर के पीछे बैठ गयी. उसने पति की कमर को घेर लिया. स्कूटर आगे बढ़ गया, पर उसकी अपनी कमर में गुदगुदी काफी देर तक होती रही. अब उसके इंतज़ार का तनाव और भी बढ़ गया. उसे रह-रह कर क्रोध आने लगा कि इतने दिन तो बाहर रहे, मौजमस्ती की, फिर क्या यह ज़रूरी था कि आज भी किसी पार्क या रेस्ट्रां या सिनेमा जाते ही. खैर जायेंगे कहां, कितनी देर बाहर रहेंगे, लौटना तो है ही. उसने भी तय कर लिया कि जब तक वे लौटकर नहीं आते, वह उनके घर तथा खिड़की से अपनी नज़रें नहीं हटायेगा. इस बीच उसने कोशिश की कि वह किसी भी तरह खिड़की के उस ओर जाये, पर नहीं संभव हुआ. उन्हें लौटने में जितनी देर हो रही थी, उसका क्रोध, क्षोभ, उतावलापन भी उतना ही बढ़ता जा रहा था. बार-बार उसकी इच्छा हो रही थी कि वह उनका घर तोड़कर भीतर घुस जाय, खिड़की सपाट खोल डाले, उसमें लगी जाली काट दे, ताकि उसे भीतर का ज़ायजा लेने में कभी कोई दिक्कत न हो. दरअसल वह काफी हिंसक होता जा रहा था. आज की ख़ास रात उनके बीच के शारीरिक उत्सव का आकंठ मानसिक भोग के लिए आकुल-व्याकुल हो रहा था. उससे बैठा नहीं गया तो वह कमरे में ही चक्कर काटने लगा.

आख़िर उसकी बेसब्र प्रतीक्षा पूरी हुई. वे लौटे. उसने देखा कि इस बार पत्नी का सिर बड़े प्रेम से पति के कंधे पर टिका है. पति ने अपनी बाहों में थाम लिया और भीतर ले गया. वह ठीक-ठीक तय नहीं कर पाया कि थाम पति ने रखा था या फिर खुद उसने! खैर, लंबी प्रतीक्षा के बाद बेडरूम में रोशनी जली. अब बारी खिड़की खुलने की थी, जिसे हर हाल में खुलना ही था, बल्कि खुलना ही चाहिए था. वह सावधान हो गया. उसकी आंखें सक्रिय हो उठीं, उसकी कल्पना तथा अनुमान आदि सजग हो गये, पर उसका दुर्भाग्य कि पूरी रात भी खिड़की नहीं खुली. वह रात उसके लिए कयामत की रात थी. उसके भीतर की क्रूरता, हिंसा लगातार बढ़ती जा रही थी. किसी भी क्षण वह अपने घर से निकल कर उनके घर पर धावा बोल सकता था. उसने लगभग पूरी रात इसी जद्दोज़हद में बितायी. उसका सिर भन्ना रहा था, आंखें कड़ुआ रही थीं, दिल उबाल खा रहा था. लेकिन वह घर से बाहर निकलने की हिम्मत नहीं जुटा पाया. झक मारकर उसे सोना पड़ा. उसने तय कर लिया कि चाहे कुछ भी हो जाये, दूसरे दिन वह इसका बदला लेकर रहेगा. उन्हें ऐसा सबक सिखलायेगा कि ज़िंदगी भर याद रखें.

सुबह उठकर उसने देखा कि सामने वाले घर के बाहर भीड़ जुटी है. वह चौंका. बाहर आया. पूछने पर पता लगा कि कल रात युवा, सुंदर पत्नी ने आत्महत्या कर ली. यह सुनकर उसके भीतर किसी तरह की हलचल नहीं हुई. उसने लगभग निर्विकार भाव से देखा कि खिड़की अब भी बंद है. गंभीर बीमारी... अस्पताल... जांच... डॉक्टर... दवा... रिएक्शन... जैसे कुछ शब्द उसके कानों में पड़े. पर उसने इन पर ध्यान नहीं दिया. लगा कि ऐसी हारी-बीमारी, घटना-दुर्घटना तो आये दिन लगी ही रहती हैं. इन पर कितना और कहां तक ध्यान दिया जा सकता है ! वह कुछ व्यस्त भाव से वहां से हट कर अपने घर में घुस गया. चूंकि अब उस खिड़की में उसकी रुचि अचानक ख़त्म हो चुकी थी, इसलिए उसने अपने ड्राइंगरूम का दरवाज़ा बंद कर दिया. किसी अन्य खिड़की की खोज में उसने अपने बेडरूम का दरवाज़ा खोल लिया. एक और संयोग कि किसी अन्य के घर की एक खिड़की उसे ऐन सामने दिख गयी. वह उत्सुकतापूर्वक, उत्साह के साथ उस नयी खिड़की में प्रवेश करने की तैयारी में जुट गया.

एयरबेस कॉलोनी, कदमा,
जमशेदपुर (झारखंड) ८३१ ००५.

क्या करेंगे गुहा दा!

नोआमुंडी में हम दोनों की वह पहली शाम थी.

चाईबासा से छूटने वाली ट्रेन की छुक-छुक रफ़्तार से हम आज़िज आ गये. शरीर का जोड़-जोड़ दुखने लगा था. गर्मी और पसीने ने जितना बेहाल किया, वह अलग. उस कस्बे में पहुंचते-पहुंचते शाम हो गयी थी. विभागीय रेस्टहाउस में नहा-धो कर तरोताज़ा होने के बाद तेज भूख सताने लगी. स्टेशन से कॉलोनी तक रिक्शे से आते हुए हम लोगों ने देख लिया था कि आसपास कोई होटल नहीं है. ढलान शुरू होने से पहले जहां तक सड़क समतल है, कस्बाई बाजार दिखा था.

विभाग का एक कर्मचारी गाइड की तरह रेस्ट हाउस से हमारे साथ चला. बाजार के बीचोबीच एक साफ़-सुथरे रेस्तरां में नाश्ता हुआ. काउंटर पर बिल के पैसे हमारे गाइड बने गुप्ता जी ने दिये. वहां से जब हम कॉलोनी की ओर वापस लौट रहे थे, तो पूरे कस्बे का आसमान धुएं से भर चुका था. दूर पर पहाड़ी टीले के पीछे चौदहवीं का चांद जीरो वाट के बल्ब की तरह ऊपर उठ रहा था. 'उस समय टिस्को लेबर कॉलोनी की ओर जाती सड़क पर महिला मजदूरों की छोटी-छोटी टोलियां अपनी देशज बोली 'हो' में कोई गीत आरोह-अवरोह की गूंजती लय में गाती चली जा रही थीं.

रेस्ट हाउस में लौट कर देखा कि दो आदमियों के लिए सारे ज़रूरी इंतजाम हो गये हैं. गुसलखाने में चार बाल्टियों में पानी, मग, साबुन. बड़े कमरे में दो चौकियों पर साफ़ धुली चादरों सहित बिछावन. टेबुल पर पानी भरा जग, दो गिलास, मोमबत्ती और माचिस. गुप्ता जी ने विदा लेते हुए हमें बताया कि रात का खाना रेस्ट हाउस में पहुंच जायेगा. यही साहब का आदेश है. देर रात में जब लोग अपने घरों में सिमट गये और कॉलोनी में सन्नाटा पसर चुका, तब हम दोनों अहाते के किनारे एक छोटी चट्टान पर आ कर बैठ गये.

गुहा दा ने हमेशा की तरह नंबर टेन का पैकेट निकाल कर सिगरेट को माचिस के डिब्बे पर तीन बार ठेंका, उस सिगरेट को होंठों में फंसाया और सलाई पर तीली घिसने से पहले मुझसे पूछ लिया - 'किशोर बाबू, एक चलेगा ?' मेरे 'नहीं गुहा दा' कहने के साथ तीली जली और और धीमी रोशनी में पहले कश के साथ सिगरेट का जलता सिरा लाल दिखने लगा.

बातचीत उन्होंने शुरू की - 'बनर्जी तो आया नहीं हम दोनों बेवकूफ हैं चले आये. इस जंगल में राव भी नहीं आयेगा. चाईबासा रेस्ट हाउस जैसा मजा तो यहां मिलेगा नहीं. फिर कोई क्यों आयेगा यहां !' अपने साथियों की बेफ़िक्री पर उनका अब तक दबा हुआ गुस्सा फूटने लगा था. गुहा दा फिर शुरू हो गये - 'आप तो यंग मैन हैं. अपनी बीवी-बच्चों को छोड़ कर यहां आये कि नहीं आये ! मेरी वाइफ को डिसेंट्री थी. बड़ी बेटी को बुखार था. तब भी मैं आ गया. यह नहीं सोचा कि पीछे में क्या होगा. भाई, ड्यूटी इज ड्यूटी. टूर ले कर घर में बैठने से कैसे चलेगा किशोर बाबू!'

डॉ. विद्याभूषण

मैंने उन्हें तसल्ली देने की कोशिश की - 'छोड़िए गुहा दा, इमरजेंसी में सब चलता है. क्या कीजिएगा ! उनको कोई प्रॉब्लम हो गया होगा. हम लोग भी कल यहां पिकनिक मना लेंगे. जैसे-तैसे रिपोर्ट तो बन ही जायेगी.'

गुहा दा की सिगरेट ख़त्म हो गयी थी और अब उन्हें चाय की तलब हो रही थी. मैंने कहा - 'इस समय यहां चाय कहां से मिलेगी दादा ?'

उन्होंने भेद भरी मुस्कुराहट के साथ ज़वाब दिया - 'इस बार हम स्टोव ले कर चले हैं. चाय, चीनी, दूध पाउडर सब है पास में. इतना इंटीरियर में टूर हो तो सब जुगाड़ रखना पड़ता है भाई. चलिए, अंदर चलते हैं.'

कमरे में आ कर गुहा दा ने देखते-देखते अपना लगेज खोल कर ज़रूरत की चीज़ों को यथास्थान सजा दिया. फिर कपड़े बदले और चाय बनाने में जुट गये. मैं उनकी फुर्ती पर अवाक हो गया था.

उन्होंने वाकई उम्दा चाय बनायी थी. वे अपनी कॉट पर पालथी मार कर बैठ चुके थे. दिन भर उनके कंधे पर झूलती कमीज वाल हैंगर पर लटक गयी थी. धोती की ज़गह लुंगी और सैंडो की गंजी में वे बड़े सद्‌गृहस्थ लग रहे थे. उनके एक हाथ में जाम की तरह चाय का गिलास था और दूसरे हाथ में जलती सिगरेट धुआंने लगी थी. मैं चाय पी कर तकिए के सहारे अधलेटा हो गया था. गुहा दा सिगरेट के धुएं के साथ खेलते हुए धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगे थे. वाह ! गुहा दा गाते भी हैं ! अचरज की बात है. धीरे-धीरे उनकी आवाज साफ़ हुई तो गले में मिठास भरने लगी. दोहराये जाने पर गीत के शब्द भी समझ में आये - 'तुमि जेई आमार. काने-काने सुधो ऐक बार बॉलो, तुमि जेई आमार, तुमि जेई आमार. आगो, तुमि जेई आमार.'

वे पता नहीं कब तक गुनगुनाते रहे. मैं गहरी नींद में लुढ़क गया. सुबह नींद खुली तो कमरे में स्टोव की सूं-सूं आवाज गूंज रही थी. गुहा दा चाय बना कर पीने की तैयारी कर चुके थे. मुझे जगा देख कर उन्होंने पूछ लिया - 'आप भी लेंगे ?' मैंने इनकार किया - 'ब्रश करने से पहले नहीं.' इस बीच वे सिगरेट सुलगा चुके थे और फिर पता नहीं किस ख्याल में खो गये थे. बाहर मुर्गे ने सुबह की पहली बांग दी थी - कुकडूं कूं और कमरे में उनकी नयी धुन शुरू हो गयी थी - 'सात भाई चंपा, जागो रे, जागो रे.'

मैं सोच रहा था, कल शाम से मैं जिस आदमी के साथ हूं, वह कोई और तपन गुहा लग रहा है. हम सब इस नाम के जिस ऑडिटर को जानते थे, वह कुछ तुनकमिजाज, बातूनी और कानूनची आदमी था. फिर मुझे गोरे-चिट्टे, लंबे-चौड़े बनर्जी बाबू याद आये. पता नहीं, किस वक़्त और किस देश की फ़ौज़ में अफ़सर थे वे. लेकिन अपने उस फौजी जीवन की कई कहानियां पूरे जोश के साथ वे सुनाया करते थे. जब कभी कोई गुहा दा की खोजी निगाह की तारीफ़ कुछ ज्यादा कर देता, तब बनर्जी बाबू को अपनी फौजी ज़िंदगी की याद ज़रूर सताने लगती थी. उन्हें वर्दी में तो किसी ने नहीं देखा था, मगर उनकी धूम-धड़ाके की शैली और छह फुटी कद-काठी का इस्तेमाल गाहेबगाहे हम लोग खूब करते थे. जैसे, जब किसी नयी ज़गह में हमारी टीम पहुंचती तो उनकी रोबदार आवाज गूंजती - 'अरे कोई है ?' फिर जो सामने दिख जाता, उसे बिना अपना परिचय दिये वे शुरू हो जाते - 'भई, क्या इंतजाम है ऑडिट पार्टी के लिए ? कैसी ज़गह रिजर्व करायी गयी है ? मुझे वह दिखाइए. कोई होटल-वोटल यहां है या नहीं ? रेस्ट हाउस में खानसामा है या नहीं ? आसपास कौन-सी साइट-स्पॉट देखने लायक हैं ?' इन जैसे सारे सवालों को पूछने का हक उन्हें मिला हुआ था और वे उसका कारगर इस्तेमाल भी करते थे.

अगले दिन बनर्जी बाबू नोआमुंडी में हाजिर हो गये तो गुहा दा का गुस्सा ठंडा हुआ. उनसे यह सूचना भी मिली कि राजेश्वर राव वहां आखिरी रोज पहुंचेगा. हुआ भी यही. तब तक हम तीनों ऑडिट रिपोर्ट तैयार कर चुके थे. राव ने उसे सरसरी नज़र से देख कर ओ.के. कर दिया तो हम सब उसी दिन अगले पड़ाव के लिए चल पड़े. आगे संताल परगना के जामताड़ा में टीम को पांच दिन रुकना था. यहां पहुंच कर पहले दिन से ही युद्ध स्तर पर फाइलों को निबटाने में हम तीनों को जुटा देख कर राव को ज़रूर ताज्जुब हुआ होगा. बनर्जी बाबू ने सैर-सपाटे का इरादा मुल्तवी कर रखा था. वे और गुहा दा तय कर चुके थे कि यहां का काम जितनी जल्दी हो सके, ख़त्म कर दिया जाये ताकि ट्रांजिट का एक दिन बचा कर हम सब पहली जनवरी का दिन मुख्यालय रांची में अपने परिवार के बीच बिता सकें. राव को इस इरादे की ख़बर नहीं थी. तीस दिसंबर को जब उसे यह बताया गया

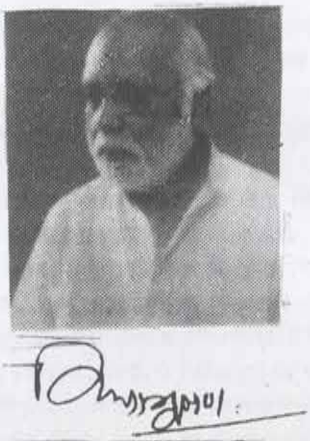

५ सितंबर १९४०, गया (बिहार),
पीएच. डी.
किशोर वय से आजतक झारखंड प्रदेश में क्रियाशील

लेखन *: अध्यापकी, किरानीगीरी, व्यवसाय, खेतीबारी, पत्रकारिता, समाज, साहित्य और संस्कृति क्षेत्र में कई दिशाखोजी पड़ावों के बाद अब सृजन और विचार की शब्द-यात्रा. 'क्रमशः,' 'अभिज्ञान,' 'प्रसंग' (अनियतकालीन पत्रिकाएं), 'देशप्राण', 'झारखंड जागरण' (दैनिक) के संपादकीय विभाग से थोड़े-थोड़े समय के लिए संयुक्त.*

प्रकाशन *: 'अतिपूर्व', 'सीढ़ियों पर धूप', 'मन एक जंगल है', 'ईंधन चुनते हुए', 'आग के आसपास', 'ईंधन और आग के बीच' (कविता संकलन), 'कोरस, कोरस वाली गली' (कहानी संकलन), 'वनस्थली के कथापुरुष' (आलोचना), 'झारखंड : समाज, संकृति और विकास' (समाजदर्शन), 'कविताएं सातवें दशक की', 'प्रपंच' (संपादित) - कुल बारह पुस्तकें प्रकाशित.*

संपादन *: लगभग दर्जन भर पुस्तकों का अनाम संपादन. पत्र-पत्रिकाओं में विविध विषयों और विधाओं में लेखन.*

तो खामोश रह गया.

फिर हुआ यह कि निर्धारित टूर प्रोग्राम से इंच बराबर भी हिलने को वह तैयार नहीं दिखा. हमें ३१ दिसंबर को रिपोर्ट ख़त्म करनी थी और पहली जनवरी को ट्रांजिट का दिन मान कर पाकुड़ अनुमंडल के लिए प्रस्थान करना था.

उस दिन सुबह से ही हमारी टीम में तनाव बनने लगा था. जिस धर्मशाले में हम टिके हुए थे, वहां चाय-नाश्ते के दौरान किसी ने राव से बातचीत नहीं की. बनर्जी बाबू और गुहा दा ने इस मामले में ऑडीटर बनाम सीनियर ऑडीटर की बाउंड्री लाइन तय कर दी थी. अब मैं भला क्या कर सकता था ! अमूमन अपने टिकने की ज़गह से टीम के सभी लोग एक साथ निकलते थे. उस रोज गुहा दा माचिस पर तीन बार ठोंक कर सिगरेट सुलगाते हुए

चुपचाप निकल गये. बनर्जी बाबू ने जूतों पर पॉलिश की और जल्दी-जल्दी फीते बांध कर खट-खट करते बाहर निकले. मैंने अनमने भाव से उनका अनुसरण किया. लिहाज़ा, हम तीनों दफ़्तर पहले पहुंचे और अविलंब अपनी रिपोर्ट को फाइनल करने में जुट गये.

राजेश्वर राव कुछ और फाइलें मंगवा कर देखना चाहता था. गुहा दा और बनर्जी बाबू ने खुला एलान कर दिया कि वे फाइनल रिपोर्ट लिख चुके हैं. अब उसमें कोई नया पैरा जोड़ना संभव नहीं है. मैं अपने हिस्से की रिपोर्ट कंपाइल करने के लिए उन्हें पहले ही दे चुका था. इस तरह उस दिन राव की एक नहीं चली. टीम का कोई आदमी टस से मस होने को तैयार नहीं था. सबका गुस्सा इस बात पर भड़क गया कि राव ने दोपहर में ऑडिट कैंप छोड़ कर जाने वाले को नतीज़ा भुगतने की धमकी दे डाली थी - 'आइ विल रिपोर्ट टू द हेडक्वार्टर, इफ सम बडी लीव्ज विथ द कैंप अर्लियर. प्लीज नोट इट.'

दोपहर में होटल में लंच के लिए राव से अलग टेबुल पर बैठ कर हम तीनों ने सलाह की. अब क्या किया जाये ! इस साले के बीवी-बच्चे तो हैदराबाद में हैं. इसे तो फ़र्क पड़ने का नहीं कि पहली जनवरी रांची में बीते या जामताड़ा में. गुहा दा इस अंचल के टूर में पहले भी एक अर्सा गुज़ार चुके थे. लिहाज़ा इस तरह के कामों में हमेशा आगे चलने वाले बनर्जी बाबू ने कमान उन्हें सौंप दी - 'गुहा, तुमि बोल. की कोरते चाई ! रांची जेते पारबे न कि ?' बनर्जी बाबू ने बंगला में लाड़ लगायी. गुहा दा ने जामवंत की तरह मार्ग सुझाया - 'अब तो एक ही उपाय है. शाम को चार बजे यहां से चितरंजन चलो. वहां आठ बजे रात में बांबे मेल मिल जायेगा. उसमें तीन सौ किलोमीटर का टिकट ले कर एक स्टॉप पहले गोमो उतर जायेंगे. गोमो में एक बजे रात में "हटिया-पटना एक्सप्रेस" मिल जायेगी. उस ट्रेन से हम लोग कोडरमा या हजारीबाग रोड चले आयेंगे. फिर सुबह होते-होते किसी बस-टैंकर से रांची.'

बनर्जी बाबू रिटायर्ड फौजी के रुआब में आ चुके थे. प्रोग्राम तय होते ही वे अटेंशन की मुद्रा में अचानक खड़े हो गये और मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए बोले - 'चलो किशोर. धर्मशाला से हम तीनों का सामान ला कर ऑफिस में रख दो. साढ़े तीन बजे हर आदमी कैंप ऑफिस छोड़ देगा. यह साला रिपोर्ट करेगा, तब मजा चखायेंगे.'

लंच आवर के बाद हम तीनों का सामान धर्मशाला से उठ कर कैंप ऑफिस में आ गया. राव हमारा इरादा समझ गया था. तीन बजे के लगभग उसने सरेंडर कर दिया - 'प्लीज डोन्ट लीव द कैंप अर्लियर. आइ विल आलसो एकंपेनी यू.' बनर्जी बाबू विजय के उल्लास में चहक उठे - 'देन व्हाई शुड बी लेट ? मेक हेस्ट. वी आर गोइंग टू चितरंजन बाइ बस, ऐंड द बस लीव्ज एक्जैक्टली एट फाइव. इफ यू मिस इट, वी शैल हैव नो आल्टरनेटिव.'

'नो, नो, प्लीज वेट. आइ विल जस्ट टेल द ऑफिस इंचार्ज टू मैनेज ए वेहिकिल. इट विल हार्डली टेक टेन मिनट टू रीच द डेस्टिनेशन. इजीन्ट इट ?'

'ओ.के., किशोर, मिस्टर राव का सामान भी ले आओ.' कमांडर ने आदेश दिया.

अब हम चार थे.

उस रात की रोमांचक यात्रा हम सबको हमेशा याद रहेगी. किस तरह हम तीन घंटे में जमताड़ा से चितरंजन पहुंचे. वहां से बांबे मेल में सवार हो कर रात में एक बजे गोमो. गोमो में पटना-हटिया दो घंटे लेट थी तो हम लोग प्लेटफॉर्म पर लेट कर आराम करने लगे. अचानक गाड़ी आने पर सबकी आंख खुली. जैसे-तैसे सामान समेट कर हम सब एक डिब्बे में घुसे. गुहा दा का ओवरकोट प्लेटफार्म पर बिछा छूट गया था. बोले - 'किशोर बाबू, अब क्या करें ?'

ट्रेन आहिस्ता सरकने लगी थी. मैं प्लेटफॉर्म पर झटपट उतर कर ओवरकोट की ओर भागा और उसे उठा कर चलती ट्रेन के दूसरे डिब्बे में लटकने को मजबूर हुआ. फिर तो आगे की यात्रा अपनी मुट्ठी में थी.

❑

उन्हीं तपन गुहा से मेरी आखिरी मुलाकात पिछले साल दिसंबर में हुई.

धूप के बावजूद वह दोपहरी सर्द थी. दफ़्तर की कैंटीन की विशाल लॉननुमा छत सैकड़ों कुर्सियों पर आराम से जमे स्टाफ के लोगों से गुलजार थी. मैं वहां से लौट रहा था, कि कॉरीडर में सामने से तेज चाल में आते हुए गुहा दा पर अचानक नज़र पड़ी. मैंने सिर झुकाते हुए अपने दोनों हाथ जोड़े. वे मौन मुस्काते हुए मेरे कंधे सहलाने लगे. फिर हम दोनों कैंटीन में आये, काउंटर से नाश्ते की प्लेट और चाय ली और खाली पड़े हॉल के एक किनारे कुर्सियों पर बैठ गये.

थोड़ी देर के लिए जैसे वर्तमान अदृश्य हो गया था और हम दोनों ऑडिट टूर के तूफानी दिनों में लौट गये थे. कुछ बातें मैं याद दिलाता, उनमें कुछ वे जोड़ देते. उन गुज़रे दिनों की अनगिनत खट्टी-मीठी यादों की गरमाहट से हमारे मन-तन लहक उठे. ३१ दिसंबर की रात में ऑडिट टीम ने जो तूफानी यात्रा की थी और नये साल का सवेरा अपने परिवार के बीच बिताने के मोह में जितना जोखिम उठाया था, उसे याद कर गुहा दा लोट-पोट हुए जा रहे थे. कभी बनर्जी बाबू के रोबदाब का किस्सा शुरू हो जाता, कभी राजेश्वर राव के कानूनची मिजाज की चर्चा होने लगती. उसी टूर प्रोग्राम के दौरान पाकुड़ से फरक्का बराज वाया मुर्शिदाबाद का दिलचस्प सफ़र भी हमें खूब याद आया.

उनके एक पुराने परिचित नज़दीक आ कर हालचाल लेने-देने लगे तो वह खुमार टूटा. आगंतुक विदा हुए तो मैंने गुहा दा

से पूछ लिया - 'और गुहा दा, अब क्या होगा ? रिटायर होने के बाद कहां सेटल करेंगे आप ? कंटैक्ट का कोई एड्रेस तो दीजिए.' वे चुप रह गये तो भी मैंने अपनी बात आगे बढ़ायी - 'दफ़्तर छोड़ने के बाद मैं तो इसी शहर में रहूंगा. अपना तो वही परमानेंट एड्रेस है, आप जानते ही हैं.'

पता नहीं, गुहा दा ने कितना सुना, कितना नहीं. वे कुछ गंभीर और उदास लग रहे थे. उन्होंने जेब टटोल कर सिगरेट और माचिस की डिबिया निकाली, सिगरेट को माचिस पर तीन बार ठेंका और तीली घिसने से पहले मुझसे हमेशा की तरह पूछ लिया - 'आप लेंगे ?' वे लंबे लंबे कश खींच रहे थे. मुझे उस मौन को तोड़ने के लिए शब्द नहीं मिले. हंसी-खुशी के बाद उनकी खामोशी मुझे चिंतित कर रही थी. ऐसी क्या बात है जो वे कह नहीं पा रहे हैं !

सिगरेट की राख झाड़ कर गुहा दा बताने लगे - 'किशोर बाबू, आप जानते हैं, कलकत्ता में हम लोगों का एक मकान है. छोटे भाई के साथ मां वहीं रहती है. भाई बैचलर है. रिटायरमेंट से पहले मैंने उन लोगों को लिखा था. छह महीने के भीतर हिनू का क्वार्टर खाली करना पड़ेगा. तुम लोग ऊपर दो कमरे खाली कर दो. हम लोग उतनी ज़गह में एडजस्ट कर लेंगे. लेकिन अभी तक वहां से कोई ज़वाब नहीं आया है. इसलिए सोच रहा हूं कि आपको कौन सा एड्रेस दूं !'

जो कहानी कई टुकड़ों में गुहा दा से मैं पहले सुन चुका था, उस दिन वह पूरी हुई.

उनके पिता विभूति बाबू ए. जी. उड़ीसा के दफ़्तर में बड़ा बाबू थे. विभूति बाबू जब नौकरी में बहाल हुए थे, उस समय बिहार और उड़ीसा दोनों के ऑडिट ऑफिसों का हेडक्वार्टर रांची में हुआ करता था. वे नौकरी करने तो यहां पहुंच गये थे, मगर बसने का इरादा ले कर नहीं आये थे. रिटायर होने के बाद बंगाल में ही कहीं स्थायी निवास बनाने का विचार था उनका. इसलिए रांची में बच्चों की स्कूली शिक्षा के बाद उन्होंने सबको कलकत्ता के कॉलेजों में भर्ती कराया था.

तपन गुहा यादवपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिल हुए. पहले दिन वहां की रैगिंग से वे थोड़ा घबराये. बाद में वहां का वातावरण भी उनको अपने मनमिजाज के अनुकूल नहीं लगा. पिता को बिना बताये उन्होंने इंजीनियरिंग कॉलेज की पढ़ाई छोड़ दी और एक जूट मिल में सुपरवाइजर हो गये. हॉस्टल को छोड़ कर वे लॉज में रहने आये तो वहां का परिवेश उन्हें मनमाफिक मिला. उस लॉज में भी उनको अपने आयु वर्ग के कई संगी-साथी मिल गये थे. वहां संगीत और गपशप की महफिल जमने लगी. साहित्य और राजनीति पर बहसें होती थीं और कलकत्ता महानगर के किसी न किसी कोने में हर रोज़ घटने वाली घटनाओं की दिलचस्प चर्चा-परिचर्या का तो कोई अंत ही नहीं था.

इस मौज-मस्ती में गुहा बाबू को इतना रस मिलने लगा कि कारखाने की शिफ्ट ड्यूटी उनको अपनी आज़ादी पर अंकुश लगने लगी. कभी जाते, कभी मटिया देते. दोस्तों की महफिल में गपशप का आनंद-सुख छोड़ कर शिफ्ट ड्यूटी का थकाने वाला चक्कर, आने-जाने के लिए ट्राम में भाग-दौड़, आठ घंटे कारखाने में काम की खिचपिच, ड्यूटी से लौटने पर अकेले लॉज में पड़े रहना और उस समय दोस्तों का सैर सपाटे में निकले रहना - यह सब उनको बहुत दुखदायी प्रतीत होता था.

उस दुख से छुट्टी पाने के लिए उनको कुछ करना नहीं पड़ा. छह महीने बीतते न बीतते कारखाने वालों ने उनको स्थायी छुट्टी दे दी. किस्मत से खिदिरपुर में एक सेठ के ऑफिस में टाइपिस्ट की नौकरी तुरत लग गयी. अब वे फिर खुश रहने लगे. लेकिन उनकी खुशी की रिपोर्ट पा कर पिता बहुत नाराज़ हुए. उनका दूसरा भाई मेडिकल कॉलेज में दूसरे वर्ष में पहुंच चुका था. तीसरा भाई इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिले के लिए आने वाला था. विभूति बाबू अपने रिटायर होने से पहले सभी बच्चों को सेटल देखना चाहते थे. बड़े बेटे तपन की नादानी पर दुखी हो कर उन्होंने उसे लिखा - 'अगर टाइपिस्ट की नौकरी ही तुम्हें पसंद है तो यहीं आ जाओ. अपने ऑफिस में रखवा दूंगा.'

इस तरह तपन गुहा कलकत्ता छोड़ कर रांची आ गये और पिता के दफ़्तर में लोअर डिवीजन क्लर्क बन गये. यहां आ कर एक नया चस्का यह शुरू हुआ कि वे खुद साहित्य करने लगे. कविताएं लिखने लगे, गोष्ठियों में जाने लगे. साल भर के भीतर वे 'निखिल बंग साहित्य सम्मेलन' के निष्ठवान कार्यकर्ता बन गये. शाम तो यार-दोस्तों के साथ गुज़रती ही थी, वे रात में भी देर-सबेर आने लगे. तब पिता ने जैसे अंतिम सजा सुनायी. उन्होंने अपने किसी मित्र की सुकन्या से तपन गुहा का विवाह कर दिया.

धीरे-धीरे तपन बाबू बाहर की दुनिया से सिमटते चले गये. घर-बार और दफ़्तर के माहौल में दूसरा कुछ सोचने का अवकाश कहां मिलता था ! पिता की आमदनी में अपनी तनख्वाह जोड़ कर तीनों भाइयों का कैरियर संवारने में लग गये वे. दूसरा भाई डॉक्टर बन कर निकला. तीसरा भाई इंजीनियरिंग की उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी चला गया. चौथा भाई कलकत्ता में प्रोफेसर बहाल हो गया. बहन एक ही थी. उसका ब्याह कलकत्ता ऑडिट ऑफिस के एक अधिकारी से हो गया. तपन बाबू पिता के सपनों को खुद तो पूरा नहीं कर सके, इसलिए उनकी मदद कर पितृऋण चुका देना चाहते थे.

लेकिन दो साल के भीतर उनको एक साथ कई दुख उठाने पड़े. पिता की आकस्मिक मृत्यु हो गयी. प्रोफेसर भाई मां को अपने पास ले गया. इंजीनियर भाई जर्मनी में किसी दुर्घटना में मारा गया. डॉक्टर भाई ने उनकी सलाह के बिना अंतरजातीय विवाह कर लिया. मां-बाप के न रहने से बहन उनसे लगभग पूरी तरह कट गयी. अब तक तपन बाबू एक-एक कर तीन कन्याओं के पिता बन गये थे. उन्हें अब यह समझ में आने लगा था कि आमदनी

छोटी-सी हो तो ऊंचे सपने देखना कितना मुश्किल काम है. भाई-बहन सभी अच्छी हैसियत में पहुंच गये थे. तपन गुहा प्रोमोट हो कर भी सिर्फ़ अपर डिवीजन क्लर्क बन पाये. अपनी भावुक मूर्खता पर पछताने के सिवा अब उनसे हो भी क्या सकता था.

❑

उस दिन उस आखिरी मुलाकात के आखिरी लम्हों में गुहा दा मुझे अपने विगत और वर्तमान दोनों से संतप्त लग रहे थे. वे अपने दुखों और समस्याओं के बारे में दोनों छोटे भाइयों और मां-बहन की बेरुखी से ज्यादा आहत थे. उनमें से कोई उनकी खोज-ख़बर नहीं लेता. आसनसोल में डॉक्टर भाई की अच्छी प्रैक्टिस चल रही है. उसकी पत्नी भी वहीं अस्पताल में डॉक्टर है. बंगला है, कार है, नौकर-चाकर हैं, धुआधांर आमदनी है. कोई बेशी लायबिलीटी भी नहीं है. उनके सिर्फ़ दो लड़के हैं. वह भी मदद करने की नहीं सोचता. छोटा भाई प्रोफेसर है. अब तक बैचलर है. वह भी अपने भाई-भतीजियों के लिए कुछ नहीं करता. गुहा दा की बड़ी बेटी उत्पला ने ऊंचे अंकों के साथ इंटर किया था. वह मेडिकल में जाना चाहती थी. उन्होंने दोनों भाइयों को लिखा. उत्तर में वहां से अच्छे रिजल्ट के लिए भतीजी को बधाई मिली. बस आगे दोनों ने चुप्पी साध ली. यही तो है अपनों का संसार.

जर्मनी वाले भाई की मौत पर मुआवज़ा मिला था. उस पैसे से कलकत्ते में मां के नाम पर एक छोटा-सा मकान ख़रीद लिया गया था. अभी मां और छोटा भाई उसी घर में रहते हैं. गुहा दा ने अपने लिए उनसे थोड़ी ज़गह मांग ली तो कोई लालच नहीं किया. यह मजबूरी है कि सरकारी क्वार्टर खाली कर अब उन्हें कहीं जाना पड़ेगा. लेकिन कहां जायें, यह वे तय नहीं कर पाये हैं. यह जान कर भी वे सब चुप हैं. बहन कभी कुछ नहीं कहती. वह भी उन्हीं लोगों की तरफ़ है. जीजा जी डिप्टी एकाउंटेंट जनरल हो गये हैं. उन्हें इन पचड़ों में पड़ने की फुरसत कहां है ! बेवफूक तो गुहा बाबू थे जो इन्हीं लोगों की तरक्की के लिए पिता का अपना पूरा वेतन सौंप देते थे, क्योंकि अकेले उनके लिए घर का सारा बोझ संभालना मुश्किल हो रहा था.

अब अकेले क्या करें तपन गुहा ! बीमार पत्नी और तीन विवाह योग्य कन्याओं को निबाहें या पेंशन की जमापूंजी लगा कर घर बनायें. ज़िंदगी भर तो जायज ढंग से कमा कर किफ़ायत में चलते रहे. ढलती उम्र में भी ऑडिट टीम में जाते रहे. शहर-शहर, कस्बे-कस्बे, दूरदराज की छोटी ज़गहों में सरकारी यात्रा में भटकते रहे कि डी.ए.-टी.ए. में मिले पैसों से अपना गुज़र कर लें और पूरा वेतन हेडक्वार्टर में बीवी-बच्चियों को मिल जाये. लेकिन पेंशनयाफ़्ता होने के बाद अब वे क्या करें ! पार्ट टाइम नौकरी करें या बेटियों को नौकरी में लगाने का उपाय करें.

विदा लेते समय गुहा दा ने मुझे अपने घर आने का निमंत्रण दिया था कि वहां इत्मीनान से बैठकर कुछ सलाह-मशविरा करेंगे. तुरंत वहां जाना नहीं संभव हुआ मेरे लिए. कुछ समय बाद जब मैं वहां पहुंचा तो उस क्वार्टर पर ताला झूलता मिला. पड़ोसियों से पूछा तो पता चला कि वे सपरिवार कलकत्ता चले गये. किसी को उनका पूरा पता ठीक-ठीक नहीं मालूम था.

अक्सर साथ चलते लोग जब तक सहयात्री बने रहते हैं तो लगता है कि ऐसे ही सब कुछ चलता रहेगा. आदमी सोचता है, चलो इत्मीनान मिलते बचाखुचा सब निबटा लिया जायेगा. फिर कभी मिल-बैठ कर आपसी दुख-सुख बांट लेंगे. लेकिन वह 'फिर कभी,' कभी नहीं आता. गुहा दा कलकत्ते के जिस जन सागर में समा गये हैं, वहां बिना पता उनको खोज लेना आसान है क्या ! अब उनके संग-साथ बैठ कर सलाह-मशविरे का अवसर कहां आयेगा ! मैं सोच रहा हूं, पता नहीं, अब क्या करेंगे गुहा दा ?

प्रतिमान प्रकाशन, किशोर गंज,
हरमू पथ, रांची (झारखंड) ८३४ ००१

लघुकथा

प्यार

सतीश दुबे

"बेबी लोग तुमसे कित्ता बोला सो जाव, तुम तो सुनता ज नी. देखो ममी ने क्या बोला था, खाना खाके सो जाना, तुम सोया ? पेले तुम लोगों ने सीडी प्लेअर पर डॉन्स किया, अब जबसे टी. वी. पर बैठी हो. अब तो मूवी ख़तम हो गया न ? हम तुमको प्यार करता, इस वास्ते ममी-डैडी से कंपलेंट नहीं करता, पर तुमतो समजताज नी... हम तो ये रोज़-रोज़ के लफड़े से परेशान हो गया..."

विचारों में खोयी नौ-दस वर्ष की बड़ी बेबी डॉली ने घुर्राती हुई उपेक्षा भरी नज़र से आया को देखा तथा फिर से आंखें टी. वी. की ओर घुमा दीं.

"सुना नहीं तुम, मैं क्या बोला..." आया बिफर गयी.

"ओफ़्, आँटी, तुम तो बहुत बोर हो, रोजी चलो..."

कॉमन-बेड पर अपने को डालकर दोनों ने शरीर पर चादरें खींच लीं.

कुछ क्षण बाद करवट लेकर रोजी ने पूछा - "दीदी, तुमने किसी से प्यार किया ...?"

"धत् पगली कहीं की..."

"दीदी बताओ ना...?" आठ वर्षीय रोजी मचल उठी.

"नहीं री, अभी मैं छोटी हूँ ना ?"

"...बड़ी होकर करोगी क्या...?"

"हां..." डॉली ने स्वप्न भरी आंखों से रोजी की ओर मुस्कुराकर देखा तथा चादर चेहरे पर खींच ली.

७६६ सुदामा नगर, इंदौर (म. प्र.) ४५२ ००९

कहानी

क्या यह कत्ल था!

डॉक्टर रामअवतार ने अपनी बीवी का कत्ल कर दिया. यूं तो दुनिया में हज़ारों कत्ल होते हैं और आमतौर पर कत्ल का कारण ज़र, जोरू और ज़मीन है होता है. कत्ल चाहे जेबकतरा, चोर, डाकू, ओसामा बिन लादेन, तालिबान करे या फिर बुश, अफ़गानिस्तान या ईराक पर कहर ढाकर लाशों का बाजार सजा दे. कत्ल का कारण कमोबेश ज़र, जोरू और ज़मीन ही रहता है.

मगर इस कत्ल के पीछे इन तीनों कारणों में से एक भी नहीं था. मैं कैसे जानता हूं ? क्या मैं कोई जासूस हूं ? नहीं जनाब मैं जासूस नहीं हूं मैं तो आप जैसा साधारण आदमी हूं. फिर मैं कैसे कह सकता हूं कि कत्ल के पीछे ज़र, जोरू और ज़मीन के अलावा कोई और कारण था.

मगर आप पहले यह तो जान लें कि डॉक्टर रामअवतार है कौन और जिसका कत्ल हुआ है वह कौन थी ? जी कातिल रामअवतार डॉक्टर है, कत्ल होने वाली यानि जिसका कत्ल हुआ वह उनकी बीवी थी. लेकिन मात्र इतना जानना काफी नहीं है.

डॉक्टर रामअवतार की उम्र बासठ साल है. उनकी बीवी जब मरी, तो उसकी उम्र पचपन साल की थी. उनके तीन बच्चे - दो लड़के और एक लड़की हैं. तीनों दुनियादारी के हिसाब से वेल सेटल्ड हैं. दोनों बेटे फॉरेन में हैं. बड़ा आस्ट्रेलिया में, छोटा जर्मनी में. दोनों इंजीनियर हैं, दोनों की शादी हो चुकी है. दोनों के दो-दो बच्चे हैं. लड़की लेक्चरर है. उसका पति जज है, वे चंडीगढ़ रहते हैं. सही मायने में सभी सुखी हैं. या थे, जी हां मिसेज रामअवतार के मरने के बाद वह भी डॉक्टर रामअवतार द्वारा अपनी पत्नी यानि उनकी मां का कत्ल कर दिये जाने के पश्चात उन्हें सुखी कैसे कह सकते हैं.

अब वे दुःखी हैं. मां के मरने की वज़ह से, तथा पिता के कातिल होने की वज़ह से. डॉक्टर रामअवतार ने लगभग दो माह पूर्व अपनी पत्नी की हत्या कर दी थी. हत्या तकिए से मुंह दबाकर, सांस घोटकर की गयी थी.

सारा शहर हैरान था कि ऐसे लोकप्रिय सहृदय सज्जन डॉक्टर ने ऐसा घिनौना काम क्यों किया ? हत्या रात को हुई. सुबह डॉक्टर ने फोन कर पुलिस को बुला लिया था और अपना अपराध भी कबूल कर लिया था. उनकी बेटी उसी दिन घर आ गयी थी. पोस्टमार्टम करके शव उसे सौंप दिया गया था. डा१रॅक्टर रामअवतार की जमानत तो संभव नहीं थी मगर उन्हें पत्नी के जनाज़े में शामिल होने, दाहसंस्कार करने की अनुमति मिल रही थी. मगर डॉक्टर रामअवतार ने उसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया था. उनके दोनों बेटे व बहुएं भी आ गयी थीं,. विदेश से. सभी डॉक्टर रामअवतार के व्यवहार से हैरान थे. पहले बेटी ने अकेले, फिर बेटों ने डॉक्टर रामअवतार से मिलकर कत्ल का कारण जानने की कोशिश की, मगर इस कार्य में सभी असफल हुए थे. यह नहीं था कि डाक्टर रामअवतार पागल हो गया था.

डॉ. श्यामसखा 'श्याम'

उसके चेहरे मोहरे से लग ही नहीं रहा था कि वह दुःखी है. वह जेल में भी अपनी दिनचर्या में वैसे ही मशगूल दिखता था जैसे वह अपने घर में रहता था. घर पर सुबह पांच बजे उठता था, फिर नित्य कर्म से निवृत्त होकर सैर को जाता, फिर आकर थोड़ा व्यायाम, योगा. उसके पश्चात नहा धोकर ईश्वर भजन में लग जाता था. यहां जेल में सुबह-सुबह सैर की इज़ाजत कैसे मिल सकती थी ? सो डॉक्टर रामअवतार ने अपनी दिनचर्या थोड़ी बदल ली थी. अब वह सबेरे भजन पूजन करता था, बाद में सब कैदियों के साथ व्यायाम आदि. उसने स्वयं को ऐसे ढाल लिया था जैसे हमेशा से कैदी रहा हो. उसके चेहरे पर विषाद या पश्चाताप की एक भी रेखा नज़र नहीं आती थी. सभी उसके व्यवहार से हैरान थे, मैं भी......

'मैं कौन जी ?' मैं ! भी उस कमबख़्त डॉक्टर रामअवतार का लंगोटिया दोस्त हूं. मेरी कोई बात उससे छुपी हुई नहीं रही है. न ही उसने अपनी कोई बात मुझसे अब तक छुपाई थी. पर इस बार तो वह मुझे भी कुछ नहीं बतला रहा है. जब मैंने उससे जेल में मुलाकात कर पूछा तो वह बोला, 'कुछ और बात करनी है तो ठीक, नहीं तो सटक जा यहां से'.

मैंने कहा था रामअवतार तुझे फांसी हो सकती है, 'तो वह बोला हो जाये अब क्या फ़िक्र है ?'

'तू कुछ बतलाएगा तो हम तुझे बचा सकते हैं.'

'बचना कौन कमबख़्त चाहता है ?' यह कह कर वह ठठाकर हंस पड़ा था.'

जेल के सभी कर्मचारी डॉक्टर रामअवतार को जानते हैं. जेल ही क्या ? सारा शहर डॉक्टर रामअवतार को जानता है उनकी इज्जत करता है. यही नहीं उनकी पत्नी भी सहृदय महिला

थी. जवानी के दिनों में भी दोनों के बारे में कुछ ऐसा-वैसा सुनने में नही आया था. सभी हैरान-परेशान थे, मगर क्या हो सकता था.

आज डॉक्टर रामअवतार की अदालत मे पेशी है. पुलिस उसे लेकर अदालत में पहुंची है. जज के आने पर डॉक्टर रामअवतार को कटघरे में बुलाया गया.

सरकारी वकील ने सारा केस अदालत को पढ़कर सुनाया था. सरकारी वकील की बात ख़त्म होने पर डॉक्टर रामअवतार के वकील की बारी आयी.

हांलाकि रामअवतार ने वकील करने से इन्कार कर दिया था फिर भी उसके बच्चों ने वकील खड़ा कर दिया था. वह भी बचाव में क्या दलील देता ?

उसने कहा था, 'मी लॉर्ड ! मेरे मुवक्किल की दिमागी हालत ठीक नहीं है, इसकी मनोवैज्ञानिक जांच करवाई जानी चाहिए. जब तक जांच न हो तब तक केस मुल्तवी रखा जाये.'

इससे पहले जज कुछ कहता डॉक्टर रामअवतार बोल उठा, 'जनाब वकील साहब झूठ बोल रहे हैं मेरी सेहत - शारीरिक व मानसिक दोनों बिलकुल ठीक हैं, जैसा कि मैं पुलिस बयान में कह चुका हूं. कत्ल मैंने होशोहवास में किया है. मुझे जो सजा आप देना चाहें दे सकते हैं.'

यह सुनकर जज साहिब कुछ देर चुप रहे फिर कहने लगे, 'डॉक्टर रामअवतार आप कुछ भी कहें. मगर कानून जहां यह जानना चाहता है कि खून किसने किया है. वहीं उसे यह विश्वास करने के लिए कि कातिल वाकई कातिल है, इसके लिए कत्ल के पीछे क्या मनसूबा था, कत्ल क्यों, किसलिए किया गया, यह जानना भी ज़रूरी है. अगर आप कत्ल का कारण या हालात नहीं बतलाना चाहते हैं तो मुझे आपको मनोचिकित्सक के पास भेजना पड़ेगा. आप सोच लें मैं अपना फैसला कल तक के लिए मुल्तवी रखता हूं. अगर आप कत्ल करने का कारण न बतलायेंगे तो मुझे आपको मनोचिकित्सक के पास भेजना पड़ेगा,' यह कह कर जज साहिब उठ कर चले गये.

अगले दिन कचहरी खचाखच भरी थी, लोग इस उम्मीद में आये थे कि शायद डॉक्टर बयान दे दे. ठीक समय पर अदालत की कार्यवाही शुरू हुई. जज साहिब ने डॉक्टर रामअवतार से पूछा, 'क्या आपको कुछ कहना है या मैं आपकी मनोचिकित्सीय जांच का हुक्म जारी करूं.'

अदालत में पलभर को सन्नाटा छा गया वक़्त जैसे थम गया था. फिर रामअवतार ने बोलना शुरू किया, 'जज साहिब यह कहां का न्याय है, कैसा न्याय है ? जब मैंने अपना जुर्म कबूल कर लिया है फिर मुझे क्यों मजबूर किया जा रहा है कि मैं यह बतलाऊं कि मैंने यह कत्ल क्यों किया, किस वज़ह से किया ? अपनी ज़िंदगी के उसी हिस्से को मैं दोबारा भुगतूं जो मैं तीस साल से भुगत रहा था. मगर आपने मेरे सामने कोई रास्ता छोड़ा ही

२८ अगस्त १९४८, रोहतक;
एम. बी. बी. एस., एफ. सी. जी. पी.

लेखन : *हिंदी पंजाबी हरियाणवी तथा अंग्रेजी में लेखन. हिंदी में एक कविता संग्रह, दो कथा संग्रह, एक उपन्यास. एक कथा संग्रह पंजाबी में. एक उपन्यास हरियाणवी में. सभी हरियाणा साहित्य अकादमी हिंदी व पंजाबी द्वारा पुरस्कृत. लगभग ६० कहानियां, ५० लघुकथाएं, सैकड़ों गीत, ग़ज़ल, कविताएं प्रकाशित. रेडियो व दूरदर्शन से प्रसारित.*

संपादन : *१९९८ से 'मसि कागद' का संपादन.*

नहीं है अतः सुनिए मगर ज़नाब मेरी भी एक शर्त है मुझे बीच मे टोका ना जाये.'

यह कह डॉक्टर रामअवतार चुप हो गया. जज साहिब ने कहा, 'रामअवतार जब तक तुम कोई असभ्य या अनर्गल बात नहीं कहोगे, तुम्हें टोका नहीं जायेगा.'

डॉक्टर रामअवतार ने एक गिलास पानी मांगा. पानी पीकर उसने बोलना आरंभ किया, 'जनाब जज साहिब ! मेरा विवाह कत्ल वाली रात से ठीक पैंतीस साल पहले हुआ था. हमारी याने मेरी और मेरी पत्नी की प्रथम मिलन यामिनी थी. वह बीस वर्ष की थी मेरा अट्ठाइसवां साल चल रहा था. हमारा विवाह माता-पिता द्वारा तय किया हुआ विवाह था, मेरी मां तथा मेरी पत्नी के पिता द्वारा. ...क्योंकि मेरे पिता नहीं थे और ससुर के सामने बोलने की हिम्मत मेरी सास की कभी नहीं रही थी... तो मैं कह रहा था कि हमारी प्रथम मिलन यामिनी थी. मैं काफी उत्तेजित था. मेरी पत्नी पलंग पर घूंघट निकाले बैठी थी. मैंने घूंघट उठाना चाहा तो उसने स्वयं ही घूंघट उलट दिया. वह सुंदर थी. उसका यह अंदाज मुझे सुंदर लगा था. मैंने उसे आगोश में लेना चाहा.'

...तभी जैसा कि अदालत में होता है सरकारी वकील ने टांग अड़ाई, 'मी लॉर्ड, इन किस्सों से अदालत का बेशकीमती वक़्त ख़राब किया जा रहा है'. मगर जज साहिब के घूर कर देखने से सरकारी वकील चुप हो गया.

डॉक्टर रामअवतार को चुप देखकर जज साहिब ने कहा, 'अब मुझसे इज़ाजत लिये बिना कोई नहीं बोलेगा. हां डॉक्टर रामअवतार आगे कहो.'

डॉक्टर रामअवतार फिर बोलने लगा. उसकी आवाज में कोई उतार-चढ़ाव नहीं था. उसकी आवाज मुझे उसकी आवाज न होकर किसी मशीन से आती आवाज लग रही थी. वह कह रहा था -'जज साहब जब मैंने उसे आगोश में लेना चाहा, तो वह मुझसे दूर हट गयी और बोली मेरी मां ने कहा है कि त्रियोदसी के दिन पुरुष को नहीं छूना चाहिए, अतः आज आप मुझसे दूर रहें. मेरा मन तो नहीं था, पर पत्नी मुझे बहुत भोली लगी. मैंने खुद से कहा चलो जहां अट्ठाइस साल बीत गये एक दिन और सही.'

अगली रात ही असल में हमारी मधुयामिनी रही. सब कुछ ठीक था मगर प्रेमा जी, यही नाम था मेरी पत्नी का - सारी रात आंखें बंद किये रही. मेरे बार-बार आग्रह पर उसने कहा, 'मेरी मां ने कहा है कि निर्लज्ज औरतें ही बे-लिबास पुरुष को देखती हैं. तुम कपड़े पहन लो, मैं तभी आंखें खोलूंगी.' मुझे अजीब तो बहुत लगा पर मैं चुप रहा. सोचा कि धीरे-धीरे सब ठीक हो जायेगा. मगर उसने सारी ज़िंदगी ख़ास समय आंख नहीं खोली. हमारा पहला बच्चा हुआ. जब पहला बेटा डेढ़ साल का था तो हमारी सावधानियों के बावजूद प्रेमा गर्भवती हो गयी और गर्भपात के लिए ज़िद करने लगी. मै डॉक्टर होते हुए भी कभी गर्भपात के पक्ष में नहीं रहा हूं. न ही मेरे नर्सिंग होम में - पूरे पैंतीस साल हो गये मुझे नर्सिंग होम चलाते - कभी गर्भपात किया गया. मगर प्रेमा की जिद थी, वह बार-बार कह रही थी - 'मेरी मां का कहना है कि दूसरा बच्चा पहले बच्चे के कम से कम पांच साल के बाद ही होना चाहिए.'

मैंने उसे समझाया था कि हम दूसरे बच्चे के बाद और बच्चा पैदा ही नहीं करेंगे. मैं स्वयं नसबंदी करवा लूंगा. मगर जज साहब मेरी एक नहीं चली और प्रेमा अपनी मां के साथ जाकर मेरी असहमति के बावजूद गर्भपात करवा आयी थी. इस घटना के पश्चात मैं भीतर ही भीतर टूट गया था और प्रेमा की मां से घृणा हो गयी थी. प्रेमा के बाल अपनी मां की तरह लंबे थे तथा उसके कूल्हों तक आते थे. मैं जब भी उसे पीछे से देखता तो वह उसकी मां जैसी लगती थी, इससे मेरा गुस्सा बढ़ जाता था. एक दिन मैंने उससे कहा, 'प्रेमा आज कल फैशन है तुम्हारे चेहरे पर बॉब कट बाल अच्छे लगेंगे, तुम बाल कटवा लो.'

वो छूटते ही बोली, 'मेरी मां कहती है बाल कटी स्त्रियां व्यभिचारिणी होती हैं. मैं बाल नही कटवाऊंगी'. मेरा दिल बैठ गया मगर मैं चुप रहा. इस तरह दिन बीतते गये. हमारे तीनों बच्चे हो गये. लेकिन प्रेमा का मां पुराण कम होने के बजाये बढ़ता ही गया. किसी तिथि को कौन सी दाल या सब्जी नहीं बनानी होती, किस वार को कौन से रंग का कपड़ा नहीं पहनना होता, इन सब पर उसकी मां की राय ही हम सब पर हावी रहती. बच्चे बड़े हुए तो वे उसे टोकने लगे. मैं अस्पताल मे होता था, सारा दिन वह बच्चों के साथ अकेली होती थी. बच्चे मुझसे शिकायत करते तो प्रेमा भी मुझसे शिकायत करती. जब मैं उसे समझाने की कोशिश करता तो वह उलट पड़ती कहती, 'तुम अपनी बात मुझसे नहीं मनवा सके, इसलिए मेरे बच्चों को मेरे विरुद्ध कर रहे हो.'

वह मानसिक तनाव में रहने लगी. उसके इकलौते मामा ने सारी उम्र अर्धविक्षप्ता में बितायी थी तथा अंत में छत से कूद कर आत्महत्या कर ली थी. कमोवेश उसके भाई बहनों, मौसियों पर भी ऐसा ही मानसिक असर था. अतः मैं डर गया था कि वह भी उस अवस्था में न पहुंच जाये, अतः मैंने बच्चों को समझाया तथा दसवीं के पश्चात लड़कों को हॉस्टल भिजवा दिया था. मगर बेटी के मामले मे प्रेमा की जिद के समने मुझे हार माननी पड़ी थी. प्रेमा यूं पढ़ी-लिखी थी. एम.एससी. थी मगर घर गृहस्थी की बातों, पति पत्नी संबधों में बिलकुल गंवार देहातिन थी.

यूं तो जज साहिब बातें बहुत हैं जिनसे मैं उम्र भर परेशान रहा हूं. जैसे फ्रिज में तीन चार दिन का दही, सब्जी, गुंथा हुआ आटा पड़ा होना अपवाद नहीं नियम था हमारे घर में. मेरे मुंह से निकली हर बात का उल्टा ज़बाब देना या मेरा कहा हुआ छोटे से छोटा काम भी न करना, प्रेमा का स्वभाव बन गया था. यह नहीं है कि वह मेरी पसंद का कोई कार्य नहीं करती थी. जब उसके दिल में आता तो सारा सारा दिन मेरी पसंद के व्यंजन बनाती. मगर केवल उसका मन होने पर ही, कभी कभार ऐसा होता था. और मेरे कहने पर तो ऐसा संभव ही नहीं था.

मैं अपने पूरे जीवन मे काफी रौबीला व्यक्ति एवं कुशल डॉक्टर माना जाता रहा हूं. मगर प्रेमा के सामने मैं असहाय था बिल्कुल असहाय. मैं अगर कभी असहनीय स्थिति में गुस्सा कर बैठता तो ज़िंदगी और कठिन हो जाती. प्रेमा अपनी गलती मानती नहीं, मानती भी तो बहुत लड़ाई झगड़े के बाद. बस इतना भर कहती कि हो गया क्या करूं ? मैंने उसे लाख बार समझाया कि वह प्रौढ़ हो रही है, अच्छे समाज में रह रही है. पिछली बातों से बाहर निकले. मगर वह हमेशा पलट कर ज़वाब देती, 'तुम पूर्वाग्रही हो, हमेशा मेरे पीछे पड़े रहते हो. तुम्हें मैं कभी पसंद ही नहीं आयी. तुम मुझे, मेरे खानदान को पागल समझते हो, तभी तो तुमने मुझे मनोचिकित्सक को दिखलाया था, क्या मिला तुम्हे ? वाकई कुछ नहीं मिला था मुझे उल्टा बुरा ही हुआ, उसे मनोचिकित्सक को दिखलाना. मनोचिकित्सक ने एक बार कह दिया था उसे समझाने के लिए आपको अपने मन की इच्छा दबानी नहीं चाहिए. चाहे गलत ही हो. दमित इच्छा, मन का दमन करना ही आपकी बीमारी का कारण है. बस फिर क्या था वह हर बात पर मुझे उलट कर ज़बाब देने लगी थी.

तीनों बच्चे अपने घर-बार के हो गये थे. मैंने नर्सिंग होम बंद कर दिया था. घर पर ही एक छोटा सा क्लीनिक बनाकर कुछ मरीज देख लेता था. ज़मीन ज़ायदाद की आमदनी से गुज़ारा चल रहा था. मैंने अब चुप रहना सीख लिया था. प्रेमा की बातों पर ध्यान न देना सीख लिया था. पर उस कत्ल की रात हम दोनों सो रहे थे. इधर कुछ महीने से उसने अपना पलंग अलग सरका लिया था. मैं रात को पानी पीने उठा, पानी पीकर बत्ती बंद करने वाला था की मेरी नज़र प्रेमा के पलंग पर पड़ी, वह नाइट गाउन पहने सो रही थी, उसका नाइट गाउन घुटने से कुछ ऊपर सरक गया था. उसकी पिंडलियां खूबसूरत नज़र आ रही थीं. बहुत दिनों से लगभग आठ महीनों से वह मुझसे दूर थी. उसकी उघड़ी पिंडलियां देखकर मैं उसके पलंग पर बैठ गया. उसे जगाने कि नीयत से उसकी पिंड लियों पर हाथ फिराने लगा. उसने करवट बदल ली, मैंने पलंग के दूसरी ओर आकर फिर पिंडलियों पर हाथ फिराया. वह अचानक जाग गयी. फिर उठ कर बैठ गयी अपने पांव मुझसे दूर खींच लिये, पिंडलियां ढक लीं और चीखने लगी, 'लंपट, कामी, लोलुप ! इस उम्र में भी तुम बाज नहीं आ रहे हो और मुझे पागल कहते हो.' तुम पागल हो, महा-पागल, मेरा इलाज कराना चाहते थे ना, मनोचिकित्सक से. अब समझ लो इलाज की ज़रूरत तुम्हें है तुम सचमुच पागल हो. हाऽ... हाऽ पागल हो तुम.' मैंने कहा, 'प्रेमा चुप हो जाओ मगर जितना मैं उससे कहता चुप हो जाओ उतना ही वह चीखती. हां, मैं ! नहीं तुम पागल हो. तभी तो इस उम्र में भी, साठ वर्ष के बाद भी... मां सच कहती थीं कि जो पुरुष संयम नहीं रख सकता, वह दुष्ट एवं पागल होता है. इस तरह बोलती हुई वह मुझे अपनी मां जैसी लगी. उसके नयन नक्श तो अपनी मां पर थे ही. अब बुढ़ापे में तो वह बिल्कुल वैसी ही लग रही थी. मुझसे सहन नहीं हुआ उसका यह रूप और मैंने उसे बिस्तर पर गिया दिया. अब वह लात घूंसे चलाने लगी. साथ ही साथ वह चीख रही थी - 'पागल हो तुम ! पागल हो.' यह सब मेरी बर्दाश्त से बाहर था. मैं सचमुच गुस्से में पागल हो गया और मैंने उसे चुप कराने के लिए तकिया उसके मुंह पर दबा दिया और तब तक दबाये रखा जब तक उसकी जबान बंद नहीं हो गयी.

कुछ देर बाद जब मैंने तकिया हटाया तो पाया वह मर चुकी थी. मगर सच कहूं जज साहब मुझे अपने किये पर कोई अफ़सोस या पश्चाताप न तब था न अब है ! बल्कि उसके मरने के बाद मुझे लगा था कि मेरी छाती पर से बरसों से पड़ा पत्थर जैसा भार उतर गया हो.' यह कहकर डॉक्टर रामअवतार चुप हो गया. जज साहब ने पेशी अगले दिन के लिए मुल्तवी कर दी.

जब पुलिस वाले डॉक्टर रामअवतार को जेल की वैन में बैठ रहे थे तो मैं उसके साथ चल रहा था. मैंने रामअवतार से पूछा था, 'तुमने अदालत में ऐसा बयान क्यों दिया ? मनोचिकित्सक के पास चले जाते तो क्या हो जाता ? डॉक्टर रामअवतार पहली बार बेचारगी से बोला, 'क्या करूं यार इसी डर से मुझे बयान देना पड़ा. मुझे डर था कि मेरे बच्चे मुझे फांसी से बचाने के लिए या तुम ही मनोचिकित्सक पर दबाव डालकर मेरी मनोदशा को विकृत घोषित करवा दोगे. उस वज़ह से मुझे पागल खाने में भी रहना पड़ता. वहां प्रेमा की आंखें मुझे घूरती रहतीं और वह ठठा कर हंसती. बिल्कुल उसी तरह जिस तरह वह कत्ल वाली रात हंस रही थी. और कहती देखो मैं ठीक कहती थी ना ! तुम सनक गये हो, तुम पागल हो हा ऽ हा ऽ हा ऽ...' क्या मैं यह सहन कर पाता ? कतई नहीं और तब मेरे सामने आत्महत्या करने के सिवाय कौन सा रास्ता रह जाता. आत्महत्या से अच्छा तो फांसी पर चढ़ना है. यह कहकर वह हंस पड़ा. हंसते हुए वह तनाव मुक्त लग रहा था. मुस्कुराते हुए वह वैन में बैठ गया और वैन चलने पर वह हाथ हिलाकर टाटा करते हुए फिर हंस पड़ा था.

उस रात जज साहब को भी नींद नहीं आ रही थी. वे सोच रहे थे - कल मुझे रामअवतार के केस का फैसला देना है. बयान देते हुए रामअवतार जितना बेचारा, थका हारा लग रहा था उससे पहले कभी नहीं दिखा. जिस संज़ीदगी से उसने अपने पूरे जीवन की त्रासदी की कहानी सुनाई थी क्या उसके बाद उसे सजा देना मुनासिब हो ? ...मैं यह तय नहीं कर पा रहा हूं क्योंकि सजा तो वह बेचारा सारी उम्र ही भुगतता रहा है. रामअवतार की ज़गह खुद मैं होता तो क्या करता ? रात आधी से ज्यादा जा चुकी है, मैं बेचैन हूं, मुझे नींद नही आ रही है. उसका दामाद मेरा सहकर्मी है. वह डॉ. रामअवतार को बचाने की सिफ़ारिश कर चुका है. ...लो सुबह हो गयी. कचहरी चलता हूं.

मैं उसे सजा से बचाने की कोशिश कर सकता हूं पर उसके लिए मुझे उसे मनोचिकित्सक के पास भेजना पड़ेगा. कत्ल के वक़्त की उसकी मनोदशा, गुस्से में पागल होने की दशा का लाभ उठाया जा सकता है. पर क्या उसे मनोचिकित्सक के पास भेजना न्यायसंगत होगा ? वह भी तब, जब उसने मेरे दबाव से मनोचिकित्सक की जांच से बचने के लिए ही मुंह खोला था. मुझे तो ऐसा करना उसके साथ नाइन्साफी ही नहीं विश्वासघात लग रहा है. यह सोचकर कुर्सी पर बैठ गया हूं कि यह न्याय की कुर्सी शायद विक्रमादित्य के सिंहासन की तरह कुछ हल निकाल दे.

अदालत के कारिंदे ने आवाज लगाई, 'सरकार बनाम रामअवतार हाजिर हो !' सरकारी वकील व जेल अधिकारी सहित रामअवतार के वकील पेश हो गये.

मैं कुछ कहता इससे पहले पहले सरकारी वकील ने एक कागज़ मेरे सामने पेश किया उसमें लिखा था -

'रामअवतार रात में ही मरा पाया गया. मैंने जब वहां जाकर मुआयना किया तो पाया कि रामअवतार ऐसे लेटा था जैसे

कोई व्यक्ति चैन की नींद सो रहा हो. मगर उसकी मौत से एक तरह तो मुझे भी सुकून ही मिला कि अब कोई फैसला नहीं लिखना पड़ेगा, दूसरी ओर रामअवतार सरीखे सज्जन की मृत्यु का दुख भी था. कोर्ट रूम वापिस लौटा तो रामअवतार के केस की फाइल सामने पड़ी थी.

मेरे पीछे से कोई, मिसिज रामअवतार के पोस्टमार्टम की रिपोर्ट को खोलकर पढ़ने लगा, हालांकि अब उसकी केस में कोई अहमियत नहीं रह गयी थी.

रिपोर्ट पढ़कर मुझे एक और झटका लगा. लिखा था कि मिसेज रामअवतार की मौत अचानक ह्रदय गति रुकने से हुई थी न कि तकिए द्वारा सांस घुट जाने से. मतलब हुआ कि रामअवतार ने जब अपनी समझ से तकिए से मुंह दबाकर उसकी हत्या की कोशिश की तो वह मर चुकी थी. मैंने कलम उठाकर फैसला लिखा कि पोस्टमार्टम की रिपोर्ट के आधार पर डॉक्टर रामअवतार बेकसूर है अतः उन्हें बाइज्जत बरी किया जाता है.

१२ विकास नगर, रोहतक-१२३ ००१.

लघुकथा

हर शाख पे...

डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र

किसी की रिपोर्ट पर रेलवे विजलेंस के अधिकारी ने पटना जंक्शन पर कार्यरत टी.सी. रामेंद्र को घूस लेते हुए पकड़ लिया और पूछताछ हेतु उसे कार्यालय में लाया गया. सर्वप्रथम एक चार्जशीट देकर उसे हस्ताक्षर करके एक प्रति लौटाने को कहा. चार्जशीट अंग्रेजी में लिखी हुई थी.

रामेंद्र ने उस जार्चशीट को ऊपर से नीचे तक बार-बार देखा, मगर उसकी समझ में कुछ न आया कि उसमें क्या लिखा है ? अतः उसने पूछ ही लिया, "सर! हिंदी में समझा दीजिए."

"क्यों ? तुम अंग्रेजी नहीं समझ पाते हो !"

"नहीं सर !"

"तुम तो ग्रेज्युएट हो न ?"

"जी सर !"

"तो फिर...?"

"सर ! आपसे क्या छिपाना ?"

"चोरी से सारी परीक्षाएं पास की थीं.... मैं ही क्या, तमाम लड़के ऐसे ही..."

"कमीशन की रिटन परीक्षा...?"

अब तक विजलेंस अधिकारी ढीला पड़ चुका था...उसे हंसी आ गयी और कुछ क्षणोपरांत उसने पुनः पूछा, "कितना पैसा दिया था ?"

"ढ़ाई लाख...."

"इतना पैसा था....तुम्हारे पिता के पास ?"

"कुछ था, कुछ ज़मीन बेचकर, कुछ कर्ज लेकर..."

"इतना पैसा देकर नौकरी पाने से तुम्हें क्या लाभ हुआ ?"

"सर, शादी में कम से कम पांच लाख मिलेगा और बाकी सर... अभी शुरू किया था कि आपने..."

विजलेंस अधिकारी अब बहुत सहज हो चुका था, "अब तक कितना कमा चुके हो ?"

"अधिक नहीं सर ! दो महीने में कितना कमाते...करीब दस हजार...सर आपसे झूठ नहीं बोलूंगा." रामेंद्र भी अब तक सहज हो चुका था.

तुम्हारे जैसे अन्य लोग भी इसी तरह रेल्वे में आ गये होंगे ?

"एकाध नहीं, सैकड़ों. ऊपर से नीचे तक सभी मिले रहते हैं."

विजलेंस अधिकारी को लगा इससे और अधिक पूछताछ कर इस पर कार्यवाई का कोई अर्थ नहीं होगा...इसी प्रकार यह मुक्त भी हो जायेगा....मैं अपनी प्रतिष्ठ क्यों खोऊं ? अतः उसने रामेंद्र से चार्जशीट लेकर कहा, "जाओ! अपना काम करो. और देखो, आइंदा..!"

अनुसंस्थान पदाधिकारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, सैदपुर, पटना-८०० ००४.

कहानी

दोस्त बडोनी, तुम कहां हो !

आज दर्पण में अपना मुस्कराता हुआ चेहरा देखकर क्षणांश को नितिन को लगा जैसे यह चेहरा उसका न होकर किसी और का हो बिल्कुल संजीदा. न उम्र की झुर्रियां, न संघर्ष के थपेड़े और न ही किसी तरह की उदासी. चेहरे पर निश्छल सी मुस्कराहट, ताज़गी. धीरे-धीरे किसी और का यह चेहरा उसके भीतर तक उतरता गया.

गोल चेहरे पर गहरी आंखें, लंबी सी नाक, सुव्यवस्थित दंत पंक्तियां. छहहरा शरीर और गोरा रंग. एक सुबह कमरे में बैठा था तभी उसकी ही सी उम्र के इस किशोर ने उसके कमरे में दस्तक दी थी. 'जी !' कुर्ता पाजामा पहने ही वह बाहर को लपका था. किवाड़ खोले, सामने उसी की उम्र का एक किशोर खड़ा था. 'नमस्ते !' उसने हाथ जोड़कर अभिवादन किया. प्रत्युत्तर में नितिन के हाथ भी जुड़े.

'मैं संदीप बडोनी... पॉलीटेक्निक में फार्मेसी डिप्लोमा कोर्स के लिए मेरा चयन हुआ है. इस शहर में बिल्कुल नया हूं. उप्रेती सर ने आपके नाम यह लेटर....' कहते हुए उसने एक कागज़ उसकी ओर बढ़ाया था. खोलकर पढ़ा, अपना परिचित बताते हुए उप्रेती जी ने नितिन से उसकी हर संभव मदद के लिए लिखा था. उप्रेती यानि मोहन चंद्र उप्रेती, उसकी स्मृतियों में तैर गये थे. वह हाई स्कूल में पढ़ता था तब ये उप्रेती जी उन्हें हिंदी पढ़ाया करते थे और हिंदी के होनहार छात्रों में एक नितिन भी था. उप्रेती जी के पत्र के साथ ढेर सारी श्रद्धा उमड़ उठी थी उसके तन मन में.

'आइए', चिट्ठी को कुर्ते की जेब के हवाले करते हुए उसने संदीप को भीतर बुलाया और स्वयं भी आकर चारपाई पर बैठ गया. संदीप कमरे में अपने बैठने के लिए ज़गह ढूंढने लगा. एक कुर्सी, एक मेज़ और चारपाई वाले इस कमरे में आख़िर वह कुर्सी पर ही बैठ गया. उसके एडमिशन कराने और रहने-खाने की व्यवस्था में नितिन को उसकी मदद करनी होगी, उप्रेती जी के पत्र और उससे बातचीत के बीच एकदम स्पष्ट था. यही संदीप के आने का प्रयोजन भी था. 'ठीक है, मैं कल ही मकान मालिक से पूछकर कमरे के बारे में बता दूंगा, आप चाहो तो आज यहीं रात गुज़ार सकते हो. कल साथ ही पॉलीटेक्निक चलेंगे,' उसने संदीप से कहा. तब वह किसी परिचित के यहां ज़रूरी काम बताकर उससे विदा लेकर चल पड़ा.

अगले दिन पॉलीटेक्निक में मुलाकात. संदीप का एडमिशन. संदीप सुनकर खुश था कि नितिन ने उसके लिए उसी मकान में कमरे का इंतज़ाम कर दिया है जहां वह स्वयं रह रहा था. आकर देखा, उतना ही बड़ा कमरा. एक चारपाई, कुर्सी और मेज़ रखने के बाद थोड़ी सी ज़गह खाने-पीने के सामान रखने और खाना बनाने के लिए बचती.

उसी शाम संदीप अपना बड़ा सा पिटारानुमा थैला लेकर आ गया. कमरे की सफ़ाई की. शाम को नितिन को ही साथ लेकर चारपाई, स्टोव, बाल्टी, मग, बिस्तर, खाने-पकाने का सामान, थोड़े बर्तन और मिट्टी का तेल ख़रीद लाया. चेहरे पर थकान के बावजूद रात बहुत देर तक संदीप अपना कमरा सजाने संवारने की उधेड़बुन में लगा रहा.

महावीर रवांल्टा

और उसी दिन से सहपाठी होने के अलावा संदीप नितिन का पड़ोसी भी हो गया था. नितिन सीधा-साधा, अंतर्मुखी. संदीप तेज तर्रार, बहिर्मुखी. संदीप जितना संज़ीदा था नितिन उतना ही उदास. यानि संदीप के चेहरे पर जितनी संज़ीदगी रहती नितिन के चेहरे पर उतनी ही उदासी रहती. नितिन अपने भीतर की दुनिया में जितना खोया रहता संदीप को बाहर की दुनिया उतनी ही आकर्षित करती.

'यार किताबी दुनिया से कभी बाहर भी निकला कर, बाहर की दुनिया इससे बहुत बड़ी है.' संदीप उसे टोकता तब नितिन टकटकी लगाये उसे बहुत देर तक देखता रह जाता. 'अजीब इंसान है यार तू, क्या रोनी सी सूरत बनाये रहता है, अच्छा भला इंसान तुझे देखकर अपसेट हो जायेगा और कहीं कभी कोई लड़की, वह तो तुझसे बात करने से रही. यह एंग्री यंगमैन स्टाइल यहां किसी को भी पसंद नहीं आने वाला', नितिन चुप था. 'अब तो थोड़ा मुस्करा दे यार कितनी देर से बके जा रहा हूं.' इस बार मुस्करा पड़ा था नितिन. 'हां ऐसे ही मुस्कराया करो, मुस्कराहट तुम्हारे चेहरे पर अच्छी लगती है, एकदम कातिल मुस्कराहट.' उसकी मुस्कराहट को उसने कातिल मुस्कराहट की संज्ञा यूं ही दी थी या वह सचमुच थी. वह बहुत देर बैठा सोचता रहा था किंतु उसकी सोच उसे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा सकी. आखिर उसने दर्पण उठाया और उसमें अपना चेहरा देखने लगा. चेहरे की एक-एक भाव-भंगिमा, उतार-चढ़ाव सब उसके सामने था, यहां तक कि मुस्कराहट भी. फिर वह जैसे अपने आप में ही आश्वस्त हुआ था कि मुस्कराते हुए वह अच्छा लगता है.

महावीर रवांल्टा

१० मई १९६६, उत्तरकाशी जनपद (उत्तरांचल),
बी. ए., डी. फॉर्म

लेखन : *विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां, लेख, कविताएं, व्यंग्य, लघुकथाएं, साक्षात्कार व समीक्षाएं प्रकाशित एवं आकाशवाणी से कुछ रचनाएं प्रसारित. कुछ नाटकों का लेखन, निर्देशन एवं अभिनय.*
'पगडंडियों के सहारे,' 'एक और लड़ाई लड़,' 'आप घर या बाप घर,' 'अपना-अपना आकाश,' (उपन्यास); 'समय नहीं ठहरता,' 'उसके न होने का दर्द,' 'टुकड़ा-टुकड़ा यथार्थ,' (कहानी संग्रह) प्रकाशित. आरंभ में कुछ वर्षों तक 'हिमालय और हम,' 'जन लहर,' 'उत्तरीय आवाज,' 'फार्मेसी सर्विस न्यूज़ बुलेटिन' पत्रों से जुड़ाव.

पुरस्कार : *'सच के आर-पार,' कहानी को 'दीप शिखा' (हरिद्वार) द्वारा प्रथम पुरस्कार; 'अवरोहण' कहानी को कानपुर की संस्था 'बिगुल' द्वारा द्वितीय पुरस्कार.*

सम्मान : *स्व. मेवाराम शर्मा स्मृति साहित्य सम्मान-९७; उत्तराखंड शोध संस्थान (हल्द्वानी) द्वारा सम्मानित-२०००; 'भारतीय संस्कृति एवं साहित्य संस्थान' (इलाहाबाद) द्वारा 'काव्य भूषण' से अलंकृत; स्व. वेद अग्रवाल स्मृति साहित्य सम्मान २००१ एवं उत्तरकाशी की संस्था 'सृजन' द्वारा २००२ में सम्मानित.*

संदीप बडोनी की बात पर अमल हुआ था. नितिन जब तब उसकी बातों पर मुस्करा देता और महसूस करता कि उसके चेहरे पर मुस्कराहट देख संदीप के चेहरे की मुस्कराहट और भी गाढ़ी हो जाती है. संदीप बडोनी के स्मरण पर वह पूरी तरह उसकी स्मृतियों में खोता हुआ बीते समय की तलहटी तक पहुंच गया था. सफ़ेद पैंट-शर्ट उनसे मेल खाते जूते-मोज़े. सर्दियों में उनके ऊपर कोट, जैकट या अच्छी स्वेटरें. सुरुचिपूर्ण ढंग से पहने ये कपड़े संदीप बडोनी के व्यक्तित्व को निखारते, उसे अच्छा लुक देते. जैसा पहनावा वैसा ही खानपान. यानि दोनों में किसी बड़े घर का सा दबदबा सदैव बना रहता.

संदीप जितने रौब-दाब से रहता फिल्मों का भी वह उतना ही शौकीन था. फिल्म अभिनेताओं की हूबहू नकल उतारना, उनके संवाद दुहराना और फिल्मी गीतों पर नाचना उसे बहुत अच्छा लगता और जब भी अवसर मिलता वह इनमें से कुछ भी कर गुज़रता और अपने साथियों के बीच ख़ास बन जाता बिल्कुल सबसे अलग. इधर रिकॉर्डर पर फिल्मी गीत बजता और उधर उसका बदन थिरकने लगता और उसका यह कार्यक्रम तब तक चलता जब तक कि वह थक कर चूर न हो जाता. शरीर पसीने में तर बतर होता और उसका मन अपनी ही दुनिया में हिलोरें ले रहा होता.

धीरे-धीरे संदीप बडोनी का परिचय क्षेत्र बढ़ने लगा. आये दिन उसके साथ कोई न कोई नया चेहरा होता. 'वाह ! कमाल का डांस करता है संदीप बडोनी.' वह अपनी नृत्य अदा दिखाता तब उसके साथी उसकी प्रशंसा किये बिना न रहते. बडोनी... यानि संदीप बडोनी का रहन-सहन, चाल-ढाल अब ज्यादातर लोगों को लुभाने लगा. उसका आत्मविश्वास अपने इस हुनर की ओर बढ़ता जाता. रात को खाना खाया नहीं कि.... नाचना शुरू. कमरे में टेप रिकॉर्डर बज उठता जिसका स्वर नितिन की पढ़ाई में ख़लल डालने लगता. तब उसे उठकर हस्तक्षेप करना ही पड़ता, 'अरे यार बडोनी भाई कुछ तो रहम कर'. वह टेप रिकॉर्डर की ओर इशारा करता और बडोनी इतनी देर में राज कुमार की सी भाव मुद्रा बनाकर फिर उसकी ओर मुख़ातिब होता - 'जानी तुम बैठो, हमारा नाच गाना देखो फिर टेप बंद', सुनकर नितिन की झुंझलाहट छू-मंतर हो जाती और चेहरे पर मुस्कराहट तैरने लगती. वही मुस्कराहट जिसे बडोनी कातिल मुस्कराहट कहा करता था. उसे बडोनी की बात मानकर उसके कमरे में बैठकर उसका नाचना देखना पड़ता, फिल्मी डायलॉग सुनने पड़ते. नितिन को अपने पास बैठा पाकर बडोनी को अवर्चनीय सुख मिलता. पहली बार अपनी मुस्कराहट की प्रशंसा बडोनी से सुनकर उसे लगा था कि वह यूं ही उसे बना रहा है लेकिन धीरे-धीरे उसके अविश्वास की धुंध छंटती गयी. एक अंतर्जुड़ाव था जो उन्हें एक दूसरे से बांधे जा रहा था. सहपाठी, पड़ोसी होने के बाद अब वे अच्छे दोस्त भी कहे जाने लगे थे. एक साथ आना-जाना, अब खूब सजने संवरने के बाद बडोनी का प्रयास होता कि नितिन भी उसकी तरह अपटूडेट रहे पर नितिन पर उसका रंग चढ़ता नज़र न आता. सज संवरकर बाहर निकलते समय बडोनी की इच्छा रहती कि नितिन भी उसके साथ रहे लेकिन उसके सामने पड़ते ही वह उसके पहनावे का मुआयना करने लगता. 'अरे यार पैंट इतनी लाइट और टी-शर्ट इतनी डार्क... जैसे किसी से मांगकर लाया हो.' नितिन हां, हूं, करता लेकिन वह तो उसे बदलवा कर ही दम लेता. 'अब हुआ न जंजीर का अमिताभ सा'. नितिन के बनने संवरने की चिंता उसे कम और बडोनी को ज्यादा रहती.

इसके अलावा पूरे पॉलीटेक्निक में बडोनी के बारे में एक चर्चा और थी कि वह कराटे जानता है और अच्छी भली ईंट को

एक झटके में तोड़ सकता है. यह सुनकर नितिन को अचरज हुआ था कि वे दोनों ज्यादा वक़्त साथ रहते हैं फिर यह बात उसके संज्ञान में क्यों नहीं आयी ! एक दिन बात ही बात में उसने बडोनी से इस बारे में पूछा था तब वह अपने परिचित अंदाज में मुस्कराते हुए बोला -'कुछ नहीं यार मैंने पहले से ही एक टूटी ईंट रख ली थी. लड़के जमा हुए तब उनके सामने मैंने उसे दो ईंटों के ऊपर रखकर जोर का हाथ मारा और ईंट दो टुकड़ों में बंट गयी. हाथ की सफ़ाई थी बस हाथ की सफ़ाई. सब ग्लैड! पर सुन यार इसका ज़िक्र तू भूलकर भी किसी से मत कर बैठना वरना अपनी पोल खुल जायेगी, तुझे मेरी करम यार !' अपनी कसम का वास्ता देकर उसने नितिन को पूरी तरह बांध लिया था. वैसे उनके बीच विश्वास इतना पक्का था कि वह अपनी कसम का वास्ता नहीं भी देता तो भी यह बात उनके ही बीच ही रहती. यह राज़ किसी और के सामने न खुलता.

उनकी मित्रता ज़रूर गाढ़ी हुई थी लेकिन जीने का अपना अलग-अलग ढंग. नितिन जितने साधारण ढंग से रहने का प्रयत्न करता बडोनी उतनी ही तड़क-भड़क से रहता. महंगे होटल में जाकर चाय, कॉफी पीना, खाना खाना और वेटर को टिप देना इसमें शामिल था. मौका मिलने पर धारा प्रवाह अंग्रेजी बोलकर लोगों को इम्प्रेस करने के प्रयास में भी वह नहीं चूकता. वह अच्छे ब्रांड की सिगरेट जलाकर उसके कश लेने लगता, तब वह किसी फिल्मी नायक की सी छवि धारण कर लेता. दिन प्रतिदिन उसके दोस्तों की संख्या बढ़ती जा रही थी. आये दिन होटल, कमरे में दावतें बडोनी की ओर से होतीं. उन्हें जोरदार ढंग से 'सेलीब्रेट' किया जाता. खाना-पीना, नाच-गाना सब कुछ चलता जो बडोनी को छात्र जीवन की पराकाष्ठा से दूर अभिजात्य वर्ग की ओर ले जाता. नितिन उसे समझाने का प्रयत्न करता लेकिन यहां वह उसकी बात न मानता उल्टा उसे ही इनमें शामिल होने का आमंत्रण देता और हार कर कभी-कभार उसे भी इनमें शामिल होना पड़ता.

संदीप बडोनी की पारिवारिक स्थिति के बारे में बहुत अधिक किसी को भी पता नहीं था. यहां तक कि उसके सबसे सन्निकट होकर नितिन को भी उसने कुछ नहीं बताया था. सिर्फ़ उसने सुना था कि वह किसी स्वतंत्रता सेनानी परिवार से है. पापा स्वतंत्रता सेनानी रहे जो उसके बचपन में ही शहीद हो गये थे. बाद में चाचा जी भी टिहरी रियासत की ज्यादतियों के खिलाफ़ आंदोलनकारी हो गये. वे भी अन्याय के विरुद्ध लड़ते शहीद हुए. बाद में चाची भी नहीं रहीं. अब बडोनी के घर में मां है, एक छोटा भाई है. मां सरकारी नौकरी करती है और उसे पापा की पेंशन भी मिलती है. मां ही उसकी देख-रेख का जिम्मा और पढ़ाई-लिखाई का खर्चा उठा रही है. घर में पैसे की कोई कमी नहीं इसलिए संदीप बडोनी शानो-शौकत से रहता है. पर अनिल की बात पर उसे एकाएक विश्वास नहीं हुआ था.

लेकिन अनिल भी उनका सहपाठी था इसलिए वह झूठ नहीं कह सकता था. बात यूं हुई कि एक शाम जब बडोनी अपनी विशिष्ट अदा में शहर की अपेक्षाकृत कम भीड़-भाड़ वाली सड़क पर टहल रहा था कि पांच-सात सीनियर्स ने उसे घेर लिया और रैगिंग के नाम पर इतना पीट डाला कि.... वह सड़क के एक ओर पड़ा कराह रहा था तभी अनिल जो उधर से गुज़र रहा था कि नज़र उस पर पड़ी. उसने सहारा देकर उसे उठाया तब कहीं वह मुश्किल से उठ सका था. उसका अंग-अंग दुख रहा था. कुछ देर बाद वह अनिल से विदा लेकर धीरे-धीरे घर की ओर बढ़ने की कोशिश करने लगा. कब और कैसे वह वापस कमरे में पहुंचा उसने नितिन को भी भनक नहीं लगने दी. आते ही सारे कपड़े धोकर सुखाने डाल दिये और खुद नहा-धोकर तरोताज़ा हो गया.

'अरे तुम्हारे चेहरे और हथेली पर ये खरोंच कैसे ?' नितिन ने उसे देखकर उससे यूं ही पूछ लिया था.

'कुछ नहीं यार कल रात सड़क पर किसी साइकिल वाले ने टक्कर मार दी, किस्मत थी जो बच गया वरना....' नितिन के पूछने पर बताया था उसने. चेहरे पर वैसी ही मुस्कराहट. सारी घटना को बड़ी आसानी से छुपा गया था संदीप. यह बात उससे सदा ही छुपी रहती यदि अनिल उससे इसका ज़िक्र न करता. अपने ज़िगरी और फिल्मी नायकों की सी छवि वाले दोस्त बडोनी के पिटने का अफ़सोस नितिन को था पर इससे ज्यादा अफ़सोस इस बात का कि उसने इसका ज़िक्र किसी से नहीं किया था. घोर अचरज. 'वाह बडोनी ! गज़ब की सहनशीलता है तुममें,' वह मन ही मन बुदबुदा पड़ा था.

उस दिन सूरज जैसे आग का गोला बना आसमान के बीचोबीच टंगा हुआ था. सड़क पर लोग इक्के-दुक्के आ जा रहे थे और इनमें अधिकांश पॉलीटेक्निक के छात्र थे. कुछ अकेले, कुछ समूह में. कुछ हाथों में पुस्तकों के साथ 'सेट स्क्वायर' लिये हुए तथा कुछ के कंधों और कुछ के बाजुओं के बीच सफ़ेद एप्रन लटके हुए. जितने छात्र उतनी तरह की उनकी चालें. नितिन जो आज अकेला ही चल रहा था, को लगा एक समूह के साथ बडोनी भी चल रहा है हंसता, ठहाके लगाता हुआ. तभी उसे लगा बडोनी कटे पेड़ की तरह गिर पड़ा था. उसके गिरते ही साथ चल रहे छात्र और अन्य लोग उसके इर्द-गिर्द इकट्ठे हो गये. नितिन भी भागता हुआ उधर पहुंचा. भीड़ के बीच घुसकर देखा - वह बडोनी ही था. बेहोश बिल्कुल सफ़ेद पड़ता चेहरा. नितिन अपनी नोट बुक लेकर उसके लिए हवा करने लगा और एक साथी दौड़कर समीप के होटल से एक गिलास पानी लेकर आया. चेहरे पर पानी के छींटे मारे. कुछ देर बाद वह होश में आया. अपने को घिरा देखकर उसे एकाएक कुछ न सूझा. लेकिन फिर उसे महसूसते देर न लगी कि वह बेहोश था. नितिन को अपने पास देखकर बडोनी कुछ देर के लिए फिर से अपनी बेहोशी को भूल मुस्कराने लगा

था. पहले से कहीं ज्यादा गहरी मुस्कराहट. नितिन के चेहरे पर भी चमक थी बहुत कुछ पा जाने जैसी चमक.

'चलें यार, चलते-चलते न जाने कैसे गश खाकर गिर पड़ा. अब मैं बिल्कुल ठीक हूं, आप लोग जाओ'. उसका रुख पहले नितिन की ओर था. फिर वहां पर इकट्ठे लोगों से अनुनय. एक-एक, दो-दो, तीन-चार के समूहों में वे चले गये. अब सड़क पर वे दोनों रह गये थे. सूरज अब भी जैसे आग बरसा रहा था. सड़क पर थोड़ी देर को जैसे सन्नाटा पसर गया था.

नितिन सहारा देकर उसे निकट के होटल में ले आया और उसमें बने एक केबिन में बिठा दिया. वहां पंखे की हवा इस समय सचमुच बहुत सुकून देने वाली थी. बडोनी अक्सर यहीं बैठा करता था और ऐसे में उसके साथ कोई न कोई ज़रूर होता था जैसे कभी-कभार नितिन भी. इससे सुरक्षित दूसरी ज़गह उसे और कोई न लगती जहां बैठकर वह खाने-पीने के साथ ही सिगरेट सुलगाकर इत्मीनान से उसके कश लेता.

'क्या लोगे, चाय.... लस्सी.... या कोई कोल्ड ड्रिंक ?' नितिन ने आदतन उससे पूछा था.

'कुछ भी चलेगा यार,' बडोनी अपनी सहज मुस्कराहट के साथ बोला था.

'फिर भी बोल न !'

'कहा न, कुछ भी चलेगा यार', बडोनी उसी बात पर था. नितिन को अचरज हुआ. उसने लस्सी का ऑर्डर दिया, साथ में प्याज के पकौड़े.

'आज तुम्हें अचानक चक्कर कैसे आ गया ?' नितिन ने प्रश्न उछाला. मेज पर लस्सी के गिलास और प्लेट में पकौड़े आ चुके थे. उसने स्वयं भी पकौड़े खाने शुरू किये और बडोनी को भी इशारा किया.

'कुछ नहीं यार बस ऐसे ही... ' बडोनी बात को टालने की कोशिश में था पर नितिन उससे इस बारे में जानने की जैसे ठान चुका था.

'बता न यार.... ' उसका वैसा ही अपनत्व से भरा नम्र स्वर सुनकर आंखें छलछलाने को थीं. उसने बडोनी की आंखों में पहले से ही जैसे कुछ अप्रत्याशित पढ़ लिया था, 'तुझे मेरी दोस्ती की कसम !' अपनी दोस्ती का वास्ता देकर उसने जैसे पत्थर को पिघला डाला.

'अब तुमसे क्या छुपाना, घर से पंद्रह दिन पहले रुपये आये थे जो यार दोस्तों के साथ मौज मस्ती में ख़र्च हो गये. पांच दिन हो गये कुछ भी नहीं खाया इसलिए.... ' कहते-कहते बडोनी पहले से कहीं ज्यादा रुआंसा हो गया था और फिर उसकी आंखें छलछलाने लगीं.

'तो यह तुम मुझे भी तो बता सकते थे', नितिन ने अपनत्ववश उसे कोसा था.

लघुकथा

सरकार का काम

लक्ष्मी नारायण अग्रवाल

'अरे ओ राम विलास उठ...उठ देख कौन आया है?'

'कौन आया है ?'

'अरे जाग मंत्री जी आये हैं.'

'आं...आं कहां हैं ?'

'तुम्हारे सामने खड़े हैं.'

'क्यों रे बिलुसवा, ऑफिस काम करने आता है या सोने ?'

'काम के लिए सर.'

'तो सो क्यों रहा है ?'

'बस आंख लग गयी.'

'और ट्रेन के सुरक्षा गार्ड लोग कहां हैं ?'

'सर वो सरकार के काम से गये हैं.'

'कौन सा काम ?'

'टी. वी. वाले सामने हैं सर, अकेले में बता दूंगा.'

'काहे को चोरी की बात है का, सब के सामने बताओ. जनता भी तो जाने ना कि कौन-कौन काम चोर है.'

'सर वो आपके घर गये हैं.'

'हमारे घर ! काहे को ?'

'आपकी भैंसों को चराने सर.'

दीप इलेक्ट्रॉनिक्स, ५-१-७१४/बी,
बैंक स्ट्रीट, हैदराबाद-५०० ०९५.

'क्या बताता, तुम तो मुझे जब-तब समझाते रहते थे. पर मैं ही न समझा था. यार दोस्त खाने-पीने में खूब साथ देते रहे. जेब खाली हुई तो सबने जैसे कन्नी काट ली. तुमने पूछा तो मैंने खुद ही.... सोचा तुम्हें यूं भी वक्त-बेवक्त तकलीफ़ देता रहा हूं और मैं..... '

'तुम कैसे दोस्त हो यार, मुझे दोस्त भी कहते हो और बात छुपाते भी हो', नितिन बोला और संदीप बडोनी उसके भीतर उतरने लगा. स्वाभिमानी भूखा-प्यासा रहना मंजूर लेकिन किसी से मांगना नहीं, छीनना नहीं. किसी के आगे हाथ फैलाना नहीं, याचना नहीं!

दो वर्ष का साथ. उसके बाद बडोनी और नितिन दो दुनिया के दो प्राणी हो गये. कहने को यूं भी कि वे एक दुनिया के दो प्राणी हो गये. जीवन यापन के लिए अपने-अपने मोर्चे के जैसे दो सिपाही. वर्षों मिलना नहीं हुआ एक दूसरे की स्मृतियों में ज़रूर रहे. तभी तो आज भी नितिन बुदबुदा पड़ा था - 'दोस्त बडोनी तुम कहां हो ?'

प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र, धरण,
बुलंदशहर (उ. प्र.) २०३ १३१

कहानी

संभालिए अपना राजपाट !

गुलबा ! गुलो !! गुलाय !!! ये तीनों नाम उसी के थे. बिसो बाबू के नौकर गुलाय के. अलग-अलग ज़रूरत और परिस्थिति के लिए पुकारने के अलग-अलग नाम ! गुलाय से कोई काम बिगड़ जाय तो बिसो बाबू गुस्से से फट पड़ते - 'रे गुलबा...?' थके-मांदे गुलाय से और अधिक काम लेना हो तो स्वर मुलायम हो जाता - 'गुलो... अरे शाम हो गयी ज़रा जल्दी करो... !' और कभी गुलो के बिदक कर भाग खड़े होने की संभावना हो तो बिसो बाबू पहले से ही ज़ुबान में मिश्री घोल लेते - 'गुलाय... !!' इस चापलूसी भरी वाणी पर तो गुलो इतना लहलोट कि हनुमानजी बन जाते. संजीवनी बूटी की ज़रूरत हो तो पहाड़ उठा लाने को तैयार.

गांव के अच्छे-अच्छे लोग भी बिसे बाबू से ईर्ष्या करने लगे थे. कारण था गुलो. लोग पूछते - 'कहां से इतना अच्छा नौकर मिल गया बिसो बाबू ? बहुत भाग्यशाली हैं आप ! एकदम भोलानाथ है आपका गुलो - उगना के रूप में.'

लोग आपस में चर्चा करते - 'जब से गुलबा बिसो बाबू के यहां है... बिसो बाबू की तरक्की देखिए.'

बीस-पच्चीस वर्षों से जवान हुई पीढ़ी को तो यह भी पता नहीं कि गुलो कब से बिसो बाबू के यहां है ? गुलो कहां से आया ? किस जाति का है ? बिसो बाबू को कहां किस परिस्थिति में मिला ? इस संबंध में कई कथाएं किंवदंति की तरह गांव ही नहीं, सगे-संबंधियों तक की ज़ुबान पर चढ़ी हुई हैं. बिसो बाबू का यह नौकर पीर, बावर्ची, भिस्ती, खर सब कुछ अकेले था. यानि हलवाही-चरवाही, दौनी-दबारी से लेकर ख़बास और संवदिया... सब कुछ अकेले गुलो के जिम्मे.

बिसो बाबू के हम उम्र दोस्तों को भी ठीक-ठीक ज्ञात नहीं कि गुलो उनके यहां कब से है ? कोई कहता है कि उन दिनों कोसी के उस इलाके में आजकल की तरह धान और गेहूं की फसल नहीं होती थी, सिर्फ़ शकरकंद और मडुआ उपजता था. चावल लाने लोग बंगाल जाते थे. गांव से बीस-बीस, तीस-तीस बैलगाड़ियों का काफ़िला जाता था. एक बार यही गुलो बिसो बाबू को कहीं मिल गया. तब छोटा सा था, बिसो बाबू उसे अपने गांव ले आये.... तो कोई दूसरी कथा बताता है कि एक बार बिसो बाबू भैंस खरीदने कोसी बांध के भीतर किसी पशु मेले में गये थे तो वहीं से गुलो को भी ले आये. गोरा रंग और अच्छी सेहत के बावजूद गुलो में एक कमी थी कि वह बहुत कम बोलता था और जितना बोलता था वह भी स्पष्ट नहीं. लोग जानना चाहते थे कि गुलो की जाति क्या है ? इस पर बिसो बाबू खीझ जाते - 'तुम लोगों को उसकी जाति से क्या मतलब है जी ?' फिर वे एक रहस्य बता जाते. 'अधिक चिंता की बात नहीं है, इतना जान लो कि उसके हाथ का पानी चलता है.'

बिसो बाबू के चार संतानें थीं. दो बेटे और दो बेटियां. बेटियों को तब गांवों में अधिक पढ़ाने-लिखाने का रिवाज़ नहीं था. मिडिल स्कूल पास कर जाना काफ़ी समझा जाता था. वैसे तो अधिक से अधिक चिट्ठी लिख पढ़ ले और ज़रूरत के कपड़े सिल ले. बीस-पच्चीस किलोमीटर के दायरे में ही दोनों बेटियों का ब्याह कर वे निश्चिंत हो गये थे. अब बेटों को पढ़ा-लिखाकर नौकरी-चाकरी के योग्य बनाना था. और इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने जिला मुख्यालय सहरसा में स्थित सबसे अच्छे स्कूल में दोनों बेटों का दाखिला करवाया. स्कूल के हॉस्टल में दोनों के रहने की व्यवस्था की, जहां चावल, दाल के साथ मेस चार्ज के रूप में कुछ रुपये भेजने पड़ते थे.

रामदेव सिंह

इन्हीं दिनों से गुलो पर बिसो बाबू का भरोसा बढ़ने लगा था. गुलो को कभी कोई आराम करते नहीं देखता. बिसो बाबू ने गुलो के भरोसे ही एक और भैंस खरीदी. गुलाय आधी रात को ही भैंस खोलता और खेतों की मेड़ों पर चरा कर सूरज उगने के पहले ही बथान पर वापस. बथान पर गोबर साफ़ करता, घर आंगन में झाड़ू-बुहारु करता. दूध दुहता और फिर खेतों की ओर. हल-बैल के संग. गुलाय दस कट्ठा खेत जोत लेता तब बिसो बाबू रोटी लेकर खेत पहुंचते. मक्के की मोटी रोटी पर नमक-मिर्च और अचार. जिसे बड़े चाव से खाकर गुलो पानी पीता और पहले किये चास को समारता. तब घर लौटता. बैलों को सानी-पानी देता. भैंस को नहलाता, स्वयं नहाकर भोजन करता. गाल के नीचे एक टूक सुपाड़ी रखता और फिर चरवाही की ओर... शाम को लौट कर फिर सानी-पानी और धुआं करता ताकि मवेशियों को मच्छर न काटें... रात का भोजन करता और अपने मचान पर सो जाता. आधी रात के बाद फिर भैंस के संग. यह तो रोज की दिनचर्या थी उसकी. इसके अलावा जब फसल तैयार होती तो इसकी दौनी-दबारी से लेकर उसे सुखाने-रखने का भी काम गुलो का होता.

बिसो बाबू का घर व्यवस्थित हो चला था. गुलो के जिम्मे सिर्फ़ हल-बैल या भैंस ही नहीं रह गया था. सहरसा में पढ़ रहे बिसो बाबू के लड़के अशोक और अनिल को राशन-पानी पहुंचाना भी गुलो की ही जिम्मेदारी थी. गुलो महीने में कम से कम दो बार सहरसा ज़रूर जाता. पौ फटने से पहले ही भैंस चराकर लौटता. रात का बचा-खुचा जो भी होता खा लेता. सिर पर गठ्री लादकर सहरसा और शाम तक गांव वापस. सहरसा में एकाध घंटा विश्राम करता. जाते वक़्त बिसो बाबू की पत्नी जो लाई-चूड़ा बांध देती, वही फांककर कहीं पानी पी लेता. बिसो बाबू चाय-पान के नाम पर उसे दो रुपये देते, वह भी बचा ही रहता. क्योंकि चाय-पान उसने कभी जुबान पर ही नहीं लिया था. बचा हुआ रुपया वह बिसो बाबू को ही रखने देता - 'जब मांगेंगे तब दीजिएगा.' फिर आहिस्ते से पूछता - 'हमारा पहले वाला हिसाब-किताब कितना है ?' बिसो बाबू गुलाय को चिढ़ाने के लिए कभी थोड़ा कम करके बताते. इस पर गुलाय भी नकली तेवर बनाता - 'हमको बुड़बक मत समझिए ! हम सब जोड़े हुए हैं.' हांलाकि गुलो को न तो हिसाब-किताब आता था और न वह कभी जोड़ता ही था. वह सिर्फ़ बिसो बाबू के हाव-भाव पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता था.

गुलो जिन दिनों आया था तब सिर्फ़ भरपेट भोजन पर ही था. बाद में गुलो के काम से खुश होकर बिसो बाबू ने बिना मांगे ही उसकी तनख्वाह बीस रुपये महीना कर दी थी. वह भी बिसो बाबू के पास ही जमा रहती. कभी-कभार बिसो बाबू के कई रिश्तेदार वग़ैरह आते और गुलो की सेवा से खुश होकर रुपये-दो रुपये दे देते तो वह भी गुलो बिसो बाबू के पास ही जमा कर देता. गुलो को न तो रुपये-पैसे की गिनती आती थी और न वह मन-पसेरी के अंतर को ठीक-ठीक समझता था. अशोक और अनिल को राशन पहुंचाने के लिए सहरसा जाता तो जाने से पहले बिसो बाबू उससे परिहास ज़रूर करते - 'आधा मन चावल दे देते हैं....' गुलो बिदक कर दालान पर - 'हमसे आधा मन नही उठेगा. हमको क्या लदनी घोड़ी समझ लिये हैं.' बिसो बाबू उसके पीछे - 'तो बोलो न ! कितना दे दें ? छः पसेरी उठा लोगे न ?' गुलाय का मन हल्का हो जाता - 'हां, इतना क्यों नहीं उठेगा ?'

गुलाय के हिसाब से पसेरी भले कितना भी हो, 'मन' से हल्का होता था. बिसो बाबू मन ही मन कहते - 'जा रे बुड़बक !'

ऐसे समय यदि गांव-घर का कोई व्यक्ति उपस्थित होता तो गुलो को भड़काता - 'एकदम्मे बुड़बक हो क्या जी ? छः पसेरी आधे मन से अधिक हुआ न ?' लेकिन गुलाय मानने को तैयार ही नहीं - 'जाइए, जाइए अपना काम करिए.' फिर बिसो बाबू को लक्ष्य कर कहता - 'दुश्मन सब को बैठाकर खूब चाय पिलाइए न ! सब बर्बाद करने पर लगा है...'

लोग खूब आनंद लेते गुलाय की बातों का. गुलाय की बातों से किसी को तकलीफ़ भी नहीं होती. उसकी स्वामीभक्ति और

रामदेव सिंह

१५ नवंबर १९५४, विज्ञान स्नातक

लेखन / प्रकाशन	: *कहानियां, कविताएं, लेख, समीक्षाएं, संस्मरण प्रकाशित. साहित्यिक पत्रिका 'कारखाना' के कहानी विशेषांक (अंक १८-१९) का अतिथि संपादन. कहानी संग्रह 'काले कोट का सफेद दिन' प्रकाशित एवं चर्चित.*
रंगकर्म / फिल्म	: *वर्षों तक रंगमंच पर बतौर अभिनेता सक्रिय/दूरदर्शन लखनऊ द्वारा निर्मित फिल्म - 'घनीभूत पीड़ा' के कवि जयशंकर प्रसाद में अभिनय.*
पुरस्कार / सम्मान	: *कथा संग्रह 'काले कोट का सफेद दिन' पर रेल्वे बोर्ड का 'प्रेमचंद पुरस्कार' एवं इसी संग्रह पर जनवादी लेखक संघ, बेगुसराय इकाई की ओर से 'शील सम्मान.'*
संप्रति	: *रेल्वे की नौकरी एवं स्वतंत्र लेखन.*

बिसो बाबू के भाग्य से लोग ईर्ष्या ज़रूर करते. लोग बिसो बाबू से कहते - 'बड़े भाग्यशाली हैं आप ! पता नहीं कहां से आपको गुलबा जैसा नौकर मिल गया ? ई तो एकदम किरात जैसा है. किस्सा सुने होंगे - पहले किरात जिस पर प्रसन्न हो जाय, उसके लिए रात-रात भर जग कर कोई भी असंभव काम कर देता था.'

समय बीतने के साथ बिसो बाबू और गुलो के संबंध मालिक और नौकर वाले नहीं रह गये थे. घर का सदस्य बन गया था गुलो. गांव-घर में जो लोग बिसो बाबू का हित सोचने वाले होते वे गुलो के भी हितैषी बाकी सब दुश्मन. और ऐसे किसी आदमी को बिसो बाबू या उनकी पत्नी चाय भी पिलाती तो गुलो का भुनभुनाना शुरू हो जाता. वह आंगन से दालान और दालान से आंगन के कई बार चक्कर लगाता. ऐसे लोगों को घूरता. पैर पटकता. मालिक-मालकिन को लक्ष्य करके कहता - 'हां..., कल से संभालिए अपना राजपाट... हम चले... खूब पिलाइए बकेन दूध की चाय ! कल से जब भैंस की पीठ पर जाना पड़ेगा, तब समझिएगा !'

गुलो, बिसो बाबू से कभी आंख मिलाकर नहीं बोलता. नज़र कहीं किस चीज़ पर और बात बिसो बाबू को संबोधित. बिसो बाबू प्रायः उसकी बात में हां ही हां मिलाते. वे डरते कि

कहीं गुलाय चला गया तो हाथ-पैर ही टूट जायेगा. विचित्र किस्म का प्राणी था गुलाय. जिस भैंस को इतना खिलाता-पिलाता, इतनी सेवा करता, उसका दूध स्वयं कभी नहीं पीता. दूध के स्वाद को याद करके ही उसे मिचली होने लगती.

गुलाय की कुछ और 'बेवकूफ़ियां' जग जाहिर हो चुकी थीं. जैसे बिसो के बेटे जब छुट्टियों में गांव आते तो गुलाय अपनी तनख्वाह के जमा रुपये में से कुछ मांग लेता और दो किलोमीटर दूर हाट से मांस या मछली खरीद लाता. बिसो बाबू बिगड़ते - 'रे गुलबा, इतना काम छोड़कर मांस-मछली लाना ज़रूरी था क्या ?' बस इतने पर गुलो शुरू हो जाता - 'हुंह, आप तो खिलाइएगा नहीं ! आपको तो चमड़ी जाय तो जाय, पर दमड़ी न जाय !'

बिसो बाबू उसे थोड़ा और चिढ़ा देते - 'सो, इ सब कौन वी. आई. पी. है जो....'

गुलो किचकिचा उठता - 'हमारी आपकी तरह हल जोतता है जो भात-दाल तरकारी पर काम चल जायेगा ? पढ़ाई-लिखाई में दिमाग ख़र्च होता है. दूध-दही, मांस-मछली नहीं मिलेगा तो दिमाग कैसे काम करेगा ! गुलाय मालकिन को भी हिदायत दे देता - 'जब तक बाबू लोग की छुट्टी है तब तक किसी को दूध पैंचा-उधार मत दीजिएगा. यदि किसी को दिये तो उसका गिलास-प्याली हम फोड़ देंगे. सो समझ लीजिए ! वैसे तो मालकिन दिखावे के लिए उसे डांटती लेकिन मन ही मन खुश ही होती कि उसी के बहाने 'पैंचा-उधार' से मुक्ति मिल जाती. बिसो बाबू के बेटे अशोक और अनिल जब दशहरा-दीवाली में गांव आते तो गुलो अपने पैसे से उनके लिए मेले से मिठइयां भी लाकर खिलाता.

गुलाय के आने के कुछ वर्षों बाद से ही बिसो बाबू की आर्थिक स्थिति में सुधार होता जा रहा था. ज़मीन-ज़गह भी पहले से बढ़ी थी. घर-दरवाज़ा भी पहले से बेहतर हुआ था. फूस के घर को तोड़कर उन्होंने ईंट और टीन की छत वाला घर बनवाया. गुलाय के अलावा उन्होंने एक और नौकर बहाल किया. पहले तो गुलाय भड़का कि यह उसे निकालने की साजिश है ! बिसो बाबू उसे समझाने की कोशिश करते - 'तुमसे अकेले इतना काम नहीं होगा.' लेकिन गुलाय मानने को तैयार ही नहीं - 'हम कौन गलती किये जो हम पर से भरोसा उठ गया. हम कभी किसी काम के लिए मना किये ?'

बिसो बाबू ने उसे समझाने का तरीका बदला - 'देखो गुलाय, अब तुम्हारा परमोशन कर दिये हैं. अब तुम मनैजर हो गये हो. अब तुम जन-मजदूर से काम करवाओ.' गुलाय मान तो गया, लेकिन आधे मन से.

प्रारंभ से ही उसने नये नौकर से ईर्ष्या भाव रखा. उसके काम करने के तरीके को देख, खूब बड़बड़ाता.

एक दिन अचानक गुलाय गायब. कहां गया ? क्यों गया ? पूरे गांव में यही चर्चा कि गुलबा भाग गया ! कई पड़ोसी तो मन ही मन खुश हुए. लेकिन ऊपरी मन से अफ़सोस व्यक्त करते. बिसो बाबू के दरवाज़े पर लोगों का आना-जाना लगा रहा. कुछ लोग इधर-उधर ढूंढ़ने निकले. लेकिन कहीं अता-पता नहीं. बिसो बाबू की पत्नी भी बहुत दुःखी थीं. घर में किसी ने खाया-पिया नहीं. शाम हो गयी लेकिन गुलाय का कोई सुराग नहीं.

शाम को बिसो बाबू अपने दालान में चिंतित बैठे थे. गांव के कुछ लोग उनके पास थे. गुलो को लेकर ही चर्चा हो रही थी.

किसी ने कहा - 'इतनी सुविधा के बाद भी भाग गया !' दूसरे ने टिप्पणी की - 'जानते नहीं हैं, छोटे लोगों के लिए कभी-कभी ज्यादा सुख बोझ बन जाता है.'

लेकन इस विचार को एक साथ कई लोगों ने काट दिया - 'नहीं, नहीं यह तो हो ही नहीं सकता है. ईमानदारी के मामले में तो उसका जोड़ा नहीं मिलेगा.'

'तब किसी ने उसे ज़रूर भड़का दिया है' - फिर किसी ने अपनी राय दी.

बिसो बाबू सब सुन रहे थे. लेकिन कोई टिप्पणी नहीं. नया नौकर अभी लड़का ही था. दिन भर काम करता और शाम को अपने घर चला जाता. शाम को माल-मवेशी को पानी पिलाने का काम गुलो का था. इसलिए वह पानी पिलाना भूल गया और अपने घर चला गया. इधर माल-मवेशी पानी के लिए डकरने लगे. लेकिन न तो बिसो बाबू और न ही किसी अन्य का ध्यान इस ओर गया. माल-मवेशी का डकरना और तेज हुआ तो कोई भूसकार से बड़बड़ा उठा. बिसो बाबू चौंके - 'यह तो गुलबा की आवाज है. वे जब तक भूसकार के पास पहुंचते तब तक गुलो बड़बड़ाता हुआ बाहर निकला - 'खाली गप्पे करिए आप लोग ! माल-मवेशी प्यास से डकर रहा है, उसे कौन पानी पिलायेगा ? गुलबे न !' बिसो बाबू उस पर गुस्साते क्या, उल्टे चुप हो गये.

गुलाय बाल्टी-बाल्टी पानी भर कर माल-मवेशी को पिलाने लगा. लेकिन उसका बड़बड़ाना जारी था - 'एक ठो क्या, चार ठो नौकर रख लीजिए, सब बर्बाद करेगा. सब कि गुलाबे है जो नमकहरामी नहीं करेगा.'

बिसो बाबू सहमते हुए बोले - 'गुलाय, कहां चले गये थे? हम लोग दिन भर तुम्हारे लिए परेशान रहे !'

गुलो के गुस्से में अपनत्व भरा प्रतिवाद था - 'चुप रहिए, हम आपसे बात नहीं करते हैं.'

बिसो बाबू को गुस्सा तो आया लेकिन गुलो जिस अपनत्व में रूठा था, उसने उन्हें मौन साधने पर मजबूर कर दिया. इतनी ईमानदारी, इतनी मेहनत, कोई लोभ-लालच नहीं.... इतने सारे गुण एक विशेषाधिकार भी तो दे देते हैं. वैसे तो दुनियादारी के हिसाब से गुलबा बेवकूफ था. बिसो बाबू गुलो के बारे में सोच-सोच कर संवेदनशील हो गये थे.

उस दिन गुलो ने मालकिन से स्वयं ही मांगकर खाना खाया. और सुबह से सब कुछ सामान्य.

समय के साथ-साथ बिसो बाबू उन्नति की राह पर थे. इस बीच बिसो बाबू के दोनों बेटे सहरसा से निकल आगे की पढ़ाई के लिए पटना रहने लगे थे. गुलाय दोनों के भविष्य के प्रति आशान्वित होने लगा था. वे जब छुट्टियों में आते तो गुलाय कहता- 'अब पढ़ाई पूरी कर जल्दी हाकिम बनिए.' वे वापस जाने लगते तो गुलाय अपनी तरफ़ से पच्चीस-पचास रुपये उनके हाथ पर रख देता.

इसके बावजूद गुलाय कितनी बार रूठा और कितनी बार उसे मनाया गया. एक बार बिसो बाबू ने नहीं मनाया तो गुलो ने अपना हिसाब किताब किया. बांस की पतली लाठी को कंधे पर रख अपना झोला लटकाया. जाने से पहले बड़बड़ाता रहा - 'ई मत समझिएगा कि हम फिर मान जायेंगे. संभालिए अपना राजपाट ! हम चले. बकेन दूध का मलगज्जा उड़ाते रहिए दुनू प्राणी.'

बिसो बाबू की पत्नी दयार्द्र हो उठी लेकिन बिसो बाबू ने रोक दिया - 'जाने दीजिए. कहां जायेगा ? शाम तक खुद ही चला आयेगा.'

और सचमुच शाम को गुलो वापस चला आया. न तो बथान पर रुका न ही दालान पर. धड़धड़ाते हुए सीधे आंगन. बिसो बाबू दालान पर बैठे थे लेकिन उनकी ओर देखा तक नहीं. लाठी और झोला रख धोती के फेंटा से रुपये निकाल मालकिन को दिया- 'इसे अपने बक्सा में रख दीजिए. अब हम मालिक को रखने नहीं देंगे. ऊ बेईमान हो गया है.' मालकिन को हंसी आ गयी, 'इतने दिन से बेईमानी नहीं किये तो अब क्यों कर लेंगे.'

'हां, अब ऊ बेईमान हो गया है. हमको गुस्सा आया. गुस्से में हम जा रहे थे, तो मालिक ने रोका क्यों नहीं ?' कहते-कहते गुलाय ने हिचकी ली. बिसो बाबू की पत्नी को समझ में नहीं आया कि गुलाय को कैसे समझायें ? तो उन्होंने सीधे प्रसंग बदल दिया- 'जाओ, हाथ पैर धो लो, हम खाना निकाल देते हैं.' गुलाय इतने भर से मान गया - 'आ रहे हैं, ज़रा धुआं कर दें. मालजाल को मच्छर काट रहा होगा.'

इस घटना के बाद भी गुलाय रूठा लेकिन अब घर छोड़कर जाने की बात नहीं करता. अधिक से अधिक एक शाम नहीं खाता.

बिसो बाबू की उन्नति अब लोगों को दिखायी पड़ने लगी थी. दोनों बेटे अच्छी सरकारी नौकरी में आ गये थे. दोनों की शादी अच्छे घरों में हो गयी थी. गुलो को दोनों शादियों में एक मिनट की फुर्सत नहीं थी. उसे शादी में धोती और कुर्ता मिला था. गुलो ने भी अपना 'फ़र्ज' अदा किया था. नवेली बहुओं को मुंह दिखाई में आठ-आठ आना भर का सोने का जेवर बनवा कर दिया था.

बिसो बाबू के दालान पर लोगों का आना-जाना और बढ़ गया था. अब गुलो किसी को देखकर चिढ़ता नहीं. अब तो स्वयं ही आंगन जाकर चाय की फरमाइश कर आता और मालकिन को कहता - 'इससे दालान की शोभा बढ़ती है.'

बिसो बाबू का पुराना घर एक बार फिर नया हो गया था. उसी डीह पर अब बारह कमरे का पक्का ढलाई मकान बन गया था. बहुत लंबा सा दालान. इससे पहले दोनों भाइयों ने पटना में भी मकान बनवा लिया था. कभी-कभार जब वे गांव आते तो ऊपरी मन से ही सही पटना चलने के लिए कहते. लेकिन गुलाय साफ़ मना कर देता - 'बाहर कितना भी बड़ा महल बना लीजिए, उससे क्या ? गांव-घर में बनाने से ही इज्जत बढ़ेगी. मालिक की भी इज्जत बढ़ेगी कि फलां बाबू के बेटे ने बनवाया है.... 'और हम लोग अब बुढ़ापे में गांव छोड़कर कहां जायेंगे ?' गुलाय के हम लोग में बिसो बाबू भी शामिल थे. बिसो बाबू बेटे और गुलाय की बातें सुन रहे थे. बेटे वहां से हटे तो उन्होंने गुलाय से कहा- 'वाह रे गुलाय, कहां से तुम्हारे मन में यह बात आयी.' गुलाय ने पहली बार बिसो बाबू से आंखें मिलाकर कहा - 'बन जायेगा तो आप ही न राज कीजिएगा !'

इसके बाद ही इतना बड़ा मकान बन कर तैयार हुआ. इस मकान की नींव से लेकर ढलाई और प्लास्टर तक गुलाय की जैसे जवानी लौट आयीं थी.

लेकिन इस मकान के पूरा होते-होते गुलाय बुरी तरह बीमार पड़ गया. पहले तो गांव के ही डॉक्टर की दवा चली. फिर सरकारी अस्पताल के डॉक्टर को दिखाया गया. कई तरह की जांच हुई, दवाएं चलीं लेकिन हालत में कोई सुधार नहीं. लोगों ने पटना ले जाने कहा. लेकिन बिसो बाबू को बेटों से कहने का साहस नहीं हुआ. वे बेटों के स्वभाव से परिचित हो चुके थे. बड़ा बेटा तो काफी पहले से कह रहा था कि 'गुलाय की अब उम्र हुई अब उससे ज्यादा काम-धाम भी तो नहीं होगा. बीमार-उमार पड़ जायेगा तो कौन देखभाल करेगा ? गुलाय को अब अपने घर चला जाना चाहिए ! नहीं तो अब वह बड़ा 'लाइबिल्टी' बन जायेगा. कौन करेगा ! हम लोग नौकरी में व्यस्त हैं.'

बिसो बाबू बेटे की बात सुनकर अवाक रह गये थे. बेटे ने पूछा था - 'इसका घर कहां है, यह तो आपको मालूम ही होगा. कोई भाई-भतीजा तो होगा ही. उन्हीं लोगों के पास पंहुचा दीजिए. समझा दीजिएगा. उसका जो पैसा निकलता होगा, इसके अलावा भी पांच-दस हजार दीजिएगा. पैसे के लोभ से लोग बुढ़ापे में सेवा-सुश्रुषा भी करेंगे !'

बिसो बाबू को पहली बार लगा कि गुलाय के बारे में इस तरह से तो उन्होंने सोचा ही नहीं. बेटे से उन्होंने कोई तर्क नहीं किया था. बेटों का अपनी जीवन है और जीने का अपना तरीका. बेटे ने उन्हें सलाह भी दे डाली थी कि अब आप भी खेती-बाड़ी छोड़िए. जमीन बंटाई पर दे दीजिए. अब खेती में लाभ भी क्या है?

अब जब गुलाय सचमुच बीमार पड़ गया तो उनकी चिंता बढ़ गयी. उनके बेटे इतने संवेदनहीन कैसे हो गये ! गुलाय ने जो किया क्या कोई नौकर करता है, इतना ? लेकिन अपनी आंखों के सामने गुलाय की फ़जीहत हो इससे तो अच्छा है कि गुलाय अपने घर ही चला जाये. पता नहीं उसका बड़ा भाई ज़िंदा भी है या नहीं. कभी खोज ख़बर भी नहीं ली.

गुलाय के घर-परिवार के बारे में सिर्फ़ उन्हीं को मालूम था. सुपौल के पशु मेले में वे भैंस खरीदने गये थे. जिस आदमी से उन्होंने भैंस खरीदी थी. गुलाय उसी का छोटा भाई था. भैंस की सेवा वही करता था. गुलाय के बड़े भाई ने बिसो बाबू से कहा था - 'भैंस चराने के लिए नौकर-चाकर नहीं हो तो इसको भी लेते जाइए. थोड़ा बुड़बक है लेकिन काम काज में कमजोर नहीं. जो भी मोटा काम कहिएगा सब कर देगा. इसी भैंस के साथ लगा रहता था.' बस साथ चला आया था गुलाय. तब बारह-तेरह साल उम्र थी उसकी. बिसो बाबू को एक नौकर की ज़रूरत भी थी. गुलाय थोडी मंद बुद्धि का था. भाई ने भी पिंड ही छुड़ाया था शायद. लेकिन यही गुलाय वरदान हो गया था बिसो बाबू के लिए. बिसो बाबू ने उन दिनों को याद किया और एक युग घूम गया उनकी आंखों के सामने.

आज उनका बेटा गुलाय के 'लाइबिल्टी' बन जाने की आशंका से पीड़ित है. जिनके लिए गुलाय ने उनसे भी बढ़कर किया... बेटों से बिसो बाबू के संवाद कम ही थे. वे कम ही दिनों में अधिक कमा चुके थे. उन्हें अपनी व्यवहारिक बुद्धि पर अभिमान सा हो चला था. उनकी समझ में भावुकता, संवेदनशीलता जैसे शब्द उन्नति के लिए बाधक थे. बड़ा बेटा तो अक्सर व्यंग्यात्मक लहजे में बोलता भी था कि 'हम लोग अभी भी 'भवजाल' में बंधे रहते हैं इसलिए तरक्की नहीं कर पाते हैं. वरना दुनिया कहां से कहां चली गयी. बिसो बाबू इस तरह की बातों से दिल से तो सहमत नहीं ही होते थे लेकिन बेटे की तरक्की उन्हें भी अच्छी ही लग रही थी. जो उन्होंने पचास साल में नहीं किया बेटे ने पांच-दस साल में कई गुणा ज्यादा कर दिया. यह अलग बात थी कि बेटों के तुरंत धनी हो जाने का नुस्खा चुभता भी रहता था.

एक दिन घोर अनिर्णय की स्थिति में ही उन्होंने एक निर्णय ले लिया, गुलाय को उसके घर पहुंचाने का. गुलाय को अच्छे डॉक्टर को दिखाने वे सहरसा ले आये. रास्ते भर वे गुलाय को मानसिक रूप से अपने गांव जाने के लिए तैयार करते रहे. साहस जुटाकर गुलाय से कहना शुरू किया - 'गुलाय ! एक बात जाने कि नहीं ? बाबू लोग चाह रहे हैं कि खेती बंटाई पर दे दिया जाय. माल जाल भी हटा दिया जाय...., वैसे तो ठीक ही कह रहा है... अब खेती-बाड़ी में लज्जत ही कितना है... हमारा-तुम्हारा पहले वाला शरीर भी नहीं रहा. बाल-बच्चे भी पास में हैं नहीं ! शरीर ज्यादा अशक्त होगा तो उन्हीं के पास जाना होगा. तब तुम्हारी देखभाल

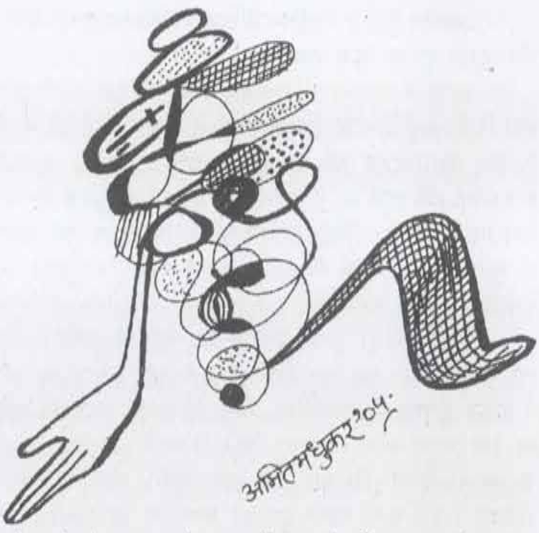

कौन करेगा ? अच्छा होगा तुम भी अब गांव ही जाकर रहो. तुम्हारा भाई तो कभी खोज ख़बर नहीं लिया लेकिन तुम्हारा भी हक़-हिस्सा है कि नहीं ? आखिर तुम्हारे बाद तो उन्हीं लोगों का होगा ! इस लोभ से तो सेवा सुश्रुषा करेगा ही. रुपये-पैसे की जो ज़रूरत होगी तो हम जब तक जीवित हैं, तुम्हें इसकी दिक्कत नहीं होगी.'

बिसो बाबू इकतरफा बोले जा रहे थे. गुलाय हां, हूं...' कुछ नहीं. लेकिन बिसो बाबू की बातों से उसका चेहरा सुन्न पड़ता जा रहा था. उसने एक बार भी मालिक की ओर नहीं देखा. देखने का साहस बिसो बाबू में भी नहीं था. वे गुलाय की चुप्पी से अंदर ही अंदर व्यथित होते जा रहे थे. गुलाय से जुड़ी न जाने कितनी घटनाएं उन्हें याद रही थी. गुलाय का पैर उनके घर में कितना शुभ साबित हुआ. 'अब जब गुलाय नही रहेगा...' सोचकर ही वे सिहर उठे.

सहरसा में दो दिन रुकना पड़ा. जांच के बाद पता चला कि टी. बी. ही है. डॉक्टर ने बताया कि ठीक हो जायेगा, थोड़ा समय लगेगा.

'अब...' बिसो बाबू फिर एक बार सोच में पड़ गये. जो अपराध वे करने जा रहे थे इसका एहसास उन्हें हो रहा था. लेकिन मन ही मन अपनी मजबूरी के लिए तर्क भी जुटा रहे थे. अब तो गुलाय को उसके घर पहुंचाना और ज़रूरी लग रहा था.

गुलाय का गांव उन्हें याद था. क्योंकि पशु मेला उसके गांव में ही लगता था. उन्होंने गुलाय की तीन-महीने की दवा खरीदी. ट्रेन से सुपौल और वहां से बस से उसके गांव. गुलाय के भाई ने गुलाय से पहले बिसो बाबू को ही पहचाना. फिर गुलाय की ओर देखा - 'मालिक ई तो हम लोगों को एकदम भूल गया.' बिसो बाबू ने भी टोक दिया - 'तुम लोगों ने भी कहां खोज-ख़बर ली कभी ?'

'मालिक ई तो सुख में था, इसी को न पूछना चाहिए था.' गुलाय का भतीजा कभी बिसो बाबू की ओर तो कभी गुलाय की ओर देख रहा था. गुलाये के भाई ने बेटे को बताया - 'तुम्हारे चाचा हैं, बारह-तेरह की उमर से ही इनके पास रह गया. जाओ चाय पानी ले आओ.'

बिसो बाबू को लौटना था. लेकिन गुलाय के बारे में यह बताने के लिए कि अब गुलाय यहीं रहेगा, थोड़ी भूमिका की ज़रूरत थी. वे बैठ गये. भाई की खेती-बारी, काम-धंधा, बाल-बच्चों के बारे में पूछा. फिर गुलाय की खोज-ख़बर नहीं लेने का एक बार दोबारा उलाहना दिया... 'अब गुलाय की भी उम्र बढ़ी है, बुढ़ापा अपने लोगों के बीच कटे वही अच्छा. कल को कुछ हो गया तो तुम्हारे बच्चे से ही न सद्‌गति मिलेगी. इधर तबीयत भी ठीक नहीं रहती है. वैसे हम सहरसा में बड़े डॉक्टर से दिखला दिये हैं - तीन महीने की दवा भी खरीद दिये हैं. पथ परहेज़ का ध्यान रखना.'

गुलाय के भाई के चेहरे पर आते-जाते भावों को वे देख रहे थे, जिन में कई तरह के प्रश्न और जिज्ञासाएं थीं. बिसो बाबू किसी प्रश्न के लिए कोई अंतराल नहीं देना चाहते थे. उन्होंने दवा की थैली भतीजे को पकड़ा दी, फिर उसे खोल कर खिलाने के बारे में बताया. कुर्ते के अंदर की जेब में रखे हुए दस हजार रुपये निकाल क्षण भर सोचा कि किसंके हाथ में दें. फिर गुलाय के हाथ में ही पकड़ा दिये - 'ये दस हजार हैं और ज़रूरत होगी तो ख़बर करना.' गुलाय की हथेलियों पर पहली बार इतने रुपयों का वज़न था लेकिन उसे समझ में नहीं आ रहा था कि इसका क्या करे ! उसने निर्लिप्त भाव से नोटों की गड्डी भाई की ओर बढ़ा दी और बिसो बाबू की ओर देखा. बिसो बाबू को लगा जैसे गुलाय ने एक साथ असंख्य सवाल उनसे कर दिये हों.

बिसो बाबू गुलाय की ओर नहीं देख सके और अचानक खड़े हो गये. चाय का गिलास यूं ही रखा रह गया. उन्होंने गुलाय के भतीजे के कंधे पर हाथ रखा - 'बेटे हम चलते हैं, बस छूट जायेगी. अपने गुलो चाचा का ख्याल रखना.' एक बार फिर साहस कर गुलाय की ओर देखा.... 'तब गुलाय चलें !' गुलाय निर्वाक ! 'कोई ज़रूरत हो तो ख़बर भेजना... हम....' गुलाय फिर भी चुप था लेकिन बिसो बाबू को उसके स्वर की अनुगूंज सुनाई दे रही थी - 'जाइए, जाइए संभालिए अपना राजपाट !' लेकिन इस बार लड़ने-झगड़ने के तेवर नहीं थे. यह स्वर टूटा हुआ था, अर्थ भी बदला हुआ.

बिसो बाबू ने अपनी नज़रें घुमा लीं और धीरे-धीरे अपने कदम बढ़ा लिये.

बिसो बाबू के कदम हल्के ज़रूर हो गये थे लेकिन मन भारी हो गया था.

१११५ सी डी, इंडियन इन्स्टीट्‌यूट कॉलोनी,
मुगलसराय (उ. प्र.) - २३२१०१

लघुकथा

स्वाभिमान की राह

डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र

"अरे भई ! तुम लोग यहां बैठकर क्या कर रहे हो ?" इंजीनियरिंग कॉलेज के हॉस्टल के एक कमरे में बैठे अनेक मित्रों के मध्य चल रही बातचीत के क्रम को भंग करते हुए सुगंध ने प्रवेश किया.

सुगंध के प्रवेश करते ही सब लोगों का ध्यान उसकी ओर चला गया. उनमें से मिताली ने प्रसन्नतापूर्वक कहा, "अरे यार ! हम लोग तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे थे."

"क्यों ? कोई विशेष बात है ?"

"आज का अख़बार देखा कि नहीं. रेल्वे में हम लोगों के लिए अनेक ज़गहें निकली हैं...आरक्षण की सुविधा भी है ही... सलेक्शन पक्का समझो."

"बुरा न मानना साथियों ! तुम्हारी इस मानसिकता से मेरा स्वाभिमान आहत हुआ है."

"क्या ?"

"अरे ! हम लोग किससे कम हैं ? अन्य लोगों से हमने क्या कम पढ़ा है ? क्या हम में प्रतिभा नहीं है ? ख़ैर...तुम लोग चाहे जो सोचो... मैं सामान्य लोगों की तरह ही एपीयर होकर अपनी प्रतिभा एवं कर्मठता सिद्ध करूंगा... मुझे विश्वास है, मेरा सलेक्शन होगा ही...फिर रेल्वे में ही क्यों ? सरकार हमें कितना देगी ?"

"तो क्या करोगे ? सामूहिक स्वर में सभी ने पूछा. हम लोगों का अंतिम वर्ष समाप्त हो गया है... श्रेष्ठ अंकों से हम उत्तीर्ण होंगे ही... म़ल्टी-नेशनल कंपनी वाले कैंपस सलेक्शन के लिए आयेंगे...उनमें जो अधिक पैसे देगा, वहीं ज्वाइन कर लेंगे... समझे."

"आरक्षण का लाभ लेने में क्या हर्ज है ?"

"हर्ज है. हमारा स्वाभिमान आहत होता है...इससे यही पता चलता है...हम लोग कमज़ोर एवं प्रतिभाहीन हैं...जीवन भर यही एहसास कुंठित करता रहेगा...हम कोटे से आये हैं. छि:! लानत भेजो... मैं तो इस कोटे वोटे में विश्वास नहीं करता."

"वाह साथी ! वाह !! क्या बात है... मैं भी कोटे का लाभ नहीं लूंगी... मैं भी अपनी प्रतिभा सिद्ध करूंगी...हम क्या किसी से कम हैं...मैं तुम्हारे साथ हूं." यह मिताली थी.

अनुसंस्थान पदाधिकारी,
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, सैदपुर, पटना-८०० ००४

'मुझे अभी अपने लेखक को प्रमाणित करना है'

✍ रामदेव सिंह

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, संजीव निगम और सूरज प्रकाश से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है रामदेव सिंह की आत्मरचना.)

'सात बार मैंने अपनी आत्मा को धिक्कारा है -

- जब मैंने उसे बड़प्पन पाने के लिए नरम होते देखा.
- जब मैंने उसे पतितों के सामने झुककर चलते देखा.
- जब उसे सरल और कठोर कामों में से किसी एक काम चुनने का मौका दिया गया और उसने सरल काम को पसंद किया.
- जब उसने कोई अपराध और पाप किया और यह कहकर अपने को संतोष दे लिया कि दूसरे भी उसकी ही तरह अपराध और पाप करते हैं.
- जब उसने अपनी दुर्बलता के कारण किसी अत्याचार को सहन किया और फिर कहा कि संतोष और शांति धारण करना भी एक गुण है.
- जब उसने किसी कुरूप चेहरे को देखकर घृणा की और यह न समझा कि वास्तव में यह उसका - मेरी आत्मा का ही दूसरा रूप है.
- जब उसने अपनी बड़ाई की डींग मारी या दूसरे की अनुचित प्रशंसा की और उसे भी एक गुण समझा.'

ख़लील जिब्रान की उपरोक्त पंक्तियां मेरे लिए 'वेदवाक्य' हैं. ये मेरे 'कन्फेशन्स' हैं, जिन्हें याद कर मैं स्वयं को नियमित और संयमित करने की कोशिश करता हूं. यूं मैं भी अन्य लेखकों की तरह कल्पना और यथार्थ के बीच आवागमन करता रहता हूं. मुंगेरीलाल की तरह मैं भी हसीन सपने देखा करता हूं. मेरे भीतर के काल्पनिक संसार में जब भी कुछ बड़ा घटित होता है, वह मुझे बुद्ध, कबीर और गांधी ही बनाता है. मेरी काया उनमें रूपांतरित हो जाती है. कभी बुद्ध की तरह मैं महल का वैभव (जो कि मेरे पास है नहीं) छोड़ निकल पड़ता हूं और २१ वीं सदी के वासनाओं और लिप्साओं भरे समाज में क्रांति हो जाती है, सब कुछ रातों-रात बदल जाता है. कभी देखता हूं कि रेल्वे में टी.टी.ई. का काम करते-करते मैं कबीर बन गया हूं. रोज़ाना सफ़र में हजारों लोग मुझसे मिलते हैं. मेरे 'सबद' अपने घर ले जाते हैं और समाज में सांस्कृतिक क्रांति हो जाती है. ...तो कभी मेरे चेहरे पर गांधी का चेहरा 'सुपर इम्पोज' हो जाता है. देश में तीसरी आजादी के लिए मैं दांडी (दिल्ली) मार्च शुरू करता हूं. लाखों नर-नारी मेरे पीछे चल पड़ते हैं और... लेकिन मैंने उन सपनों में भी सत्ता के शीर्ष पर बैठे किसी व्यक्ति से कोई तादात्म नहीं महसूस नहीं किया. उन सपनों में मैंने हमेशा बुद्ध और गांधी की तरह स्वयं को 'डीक्लास' किया है या फिर कबीर या नानक की तरह एक श्रमिक ज़िंदगी जीते हुए बड़ी आध्यात्मिक क्रांति का सूत्रधार बना हूं. यह मेरी कल्पना और सोच की अति हो सकती है, जो कि है भी. यथार्थ में तो मैं भी टुच्ची और स्वार्थी ज़िंदगी जी रहा हूं. मेरे आस-पास भी वही क्षुद्र संसार है जिसे महान बनाने का कोई भी प्रयास मेरा नहीं है. बल्कि कहीं न कहीं जिम्मेवार भी हूं. इसलिए प्रतिदिन 'कन्फेशन' ज़रूर करता हूं. यही मेरी कहानियों की आधारभूत संरचना भी है.

यह मेरा सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों है कि मैं साहित्य में जनवादी लोगों के बीच पला-बढ़ा. साहित्य को समझने की एक वैज्ञानिक दृष्टि मिली लेकिन यह भी सच है कि उनकी सीमाओं का पता चला. अपना स्वयं का संकोच तोड़ते हुए आज मैं कह सकता हूं कि अब मैं किसी की भी रचना में उसकी 'आत्मा' की तलाश करता हूं जो दूसरे रूप में उसका प्राण तत्व भी है. इसी को कवि ज्ञानेंद्रपति 'जीवन-द्रव्य' के रूप में चिन्हित करते हैं. जिसे पाठक विश्लेषण से नहीं, मौन रहकर अंतर्मन में महसूस करता है. बड़ी रचना वही होती है जिसमें यह 'जीवन-द्रव्य' होता है. जहां लेखक भी पारदर्शी होकर हमारे सामने खड़ा हो जाता है. इसी आधार पर कई बार निर्मल वर्मा सबसे बड़े और ईमानदार लेखक नज़र आते हैं तो तथाकथित जनपक्षधर मार्क्सवादी लेखक बेईमान. मुझे कई बार साहित्य में 'तोप' की तरह प्रचारित की गयी जनवादी कविता 'सीली' हुई बारूद की तरह फुसफुसाती नज़र आती है तो अशोक वाजपेयी की कविता 'थोड़ा सा' में झकझोरने और बदलने की बहुत बड़ी क्षमता. जो रचना पाठकों को अंदर से झकझोरने, विचलित करने और रूपांतरित करने की

क्षमता रखे वही महत्वपूर्ण होती है. मेरे अपने लेखन का भी यह अभीष्ट है.

गांधी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' मेरी सर्वाधिक प्रिय पुस्तक है. सत्य, सहजता और साहस का अद्‌भुत रचनात्मक प्रयोग है यह पुस्तक. इस पुस्तक ने मुझे आत्मसाक्षी बनने में काफी मदद की है. अभी मेरे सामने यही पुस्तक है जो 'रिफ्लेक्ट' करती है और आरपार देखने और जीवन को समग्रता में जानने का अवसर भी देती है. मैं जो भी लिख रहा हूं, मेरे जीवन का इतना सा भी सत्य नहीं है. इतने बड़े जीवन को किसी एक लेख में समेटना संभव है भी नहीं. इसलिए अपनी सीधी-सादी चल रही ज़िंदगी के साहित्यिक रूपांतरण को ही लिखना चाहता हूं या यह कि जीवन और साहित्य के बीच कहां खड़ा हूं मैं !

किसी व्यक्ति का साहित्य से जुड़ना ही एक अलग 'इन्स्टिन्क्ट' की मांग करता है. चाहे लेखक के रूप में हो या पाठक के रूप में. बौद्धिक होना अलग बात है, लेकिन लेखन के लिए ज़रूरी है जीवन और जगत के प्रति आत्मीयता और सहृदयता. यही गुण लेखकों को एक अलग धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है. इसलिए किसी भी लेखक से पूछ लीजिए, वह अपने सगे संबंधियों से ज्यादा लेखकों और साहित्य-प्रेमियों के बीच स्वयं को सहज पाता है. मुझमें भी यह 'इन्स्टिन्क्ट' है. जब से मैं चैतन्य हुआ, तभी से अपनी इस बनावट को समझने लगा था.

गुरू के संदर्भ में कबीर का दोहा मुझे बहुत पसंद है -

गुरु कुम्हार शिष कुंभ है, गढ़ि गढ़ि मारे खोट ।
अंतर हाथ सहार दे, बाहर मारे चोट ।।

ऐसी ही गुरू की भूमिका में मेरी मां रही है. मां न चाहती तो मैं पढ़-लिख नहीं पाता. गांव में मेरे ही पूर्वजों की दी हुई ज़मीन पर मध्य-विद्यालय है. तब कक्षा एक से तीन और कक्षा छः-सात की पढ़ाई होती थी. कक्षा चार-पांच की पढ़ाई के लिए एक किलोमीटर दूर दूसरे गांव में जाना पड़ता था. मां की मुस्तैदी से ही मेरा नाम स्कूल में लिखवाया गया. लेकिन स्कूल के नाम से मुझे रुलाई आती. मां, मुझे तैयार कर, पुरानी साड़ियों के बने बस्ते में स्लेट-पेन्सिल और मनोहर पोथी देती, और स्कूल के लिए रवाना करती और मैं दूसरे रास्ते से वापस. मां खीझती, दो-चार तमाचे लगाती और मैं रोते-रोते स्कूल जाता. अगले दिन फिर वही क्रम. मां जब भी मुझे स्कूल न जाने पर पीटती, दादी मां को डांटतीं - 'बड़ी मास्टरनी बनी है.' एक दिन जब मैं रास्ते से लौटकर आया, तो मां, मेरा हाथ पकड़कर कमरे में ले गयी और और अंदर से किवाड़ बंद कर लिया. पहले से ही कमरे में कच्चे बांस की करची रखी थी, जो हमारे यहां दातून के रूप में भी प्रयोग होती है, मां ने पूछा - 'तुम पढ़ना क्यों नहीं चाहते ?' और करची से मुझे पीटना शुरू किया. मैं चिल्लाता रहा और मां पीटती रही. बाहर से दादी और चाचियां मां को डांटती रहीं. लेकिन मां पर जैसे भूत सवार था. मेरे हाथ-पैर पर जहां-जहां करची पड़ी थी, खून निकल आया था. पता नहीं कैसे मैंने साहस करके कहा - 'इससे अच्छा तुम मुझे जान से क्यों नहीं मार देती ?' मां के हाथ अचानक रुक गये. करची फेंकी, और मुझे लिपटाकर फूट-फूटकर रोने लगी. मेरी हिचकी और तेज हो गयी. इस घटना के बाद न तो मां ने मुझे मारा-पीटा और न कभी मैंने स्कूल नागा किया. मां इतनी सख़्ती नहीं करती तो मैं पढ़-लिख नहीं पाता. कारण, पिताजी चाहते थे इकलौता बेटा हूं, घर पर रहकर ही खेती-बाड़ी संभालूंगा.

मेरे बचपन के वे दो वर्ष सबसे महत्वपूर्ण हैं जब चौथी-पांचवीं कक्षा में पढ़ने के लिए मैं पड़ोस के गांव इसरायण गोठ जाने लगा. इस स्कूल के हेडमास्टर श्री राजेंद्र नारायण सिंह की ख्याति अच्छे शिक्षक के रूप में थी. वे स्कूल में ही नहीं, घर की दिनचर्या की भी सूचना लेते रहते थे. जिस गांधी दर्शन को मैंने बहुत बाद में पढ़ा, उसके व्यवहारिक पक्ष से उन्होंने बहुत पहले जोड़ दिया था. जीवन में नैतिकता, स्वावलंबन और श्रम के महत्व को उन्होंने ही पहले-पहल बताया. संस्कार में सामंती पृष्ठभूमि से आने के बावजूद मैं विचार और व्यवहार के स्तर पर यदि स्वयं को पूरे परिवार और कुनबे से अलग कर सका तो इसमें बड़ी भूमिका उन्हीं की रही है. बाद की पढ़ाई के दौरान भी इतना बड़ा शिक्षक नहीं मिला. उनके आने के पहले वह विद्यालय मरुभूमि जैसा था, जिसे उन्होंने हरा-भरा ही नहीं बना दिया, बल्कि हम बच्चों के मन में भी अच्छे विचारों के फूल खिलाने की कोशिश की. वे चार बजे सुबह हमारे घरों पर आकर हमारी पढ़ाई का औचक निरीक्षण करते, जिस दरवाज़े पर लालटेन नहीं जल रही होती उसके अभिभावक की ही फ़ज़ीहत होती. 'सादा जीवन और उच्च विचार' का पहला पाठ भी उन्हीं से सीखा था. मैंने अपने जीवन का पहला नाटक उन्हीं के निर्देशन में खेला था, जिसमें 'डगलस' की भूमिका थी मेरी. नाटक ही शायद पहला माध्यम था जिसने मुझे साहित्य की संवेदना से जोड़ा. गांधी-नेहरू के बारे में पहली बार उन्हीं से जाना. नेहरू जी के बारे में तो हम इसलिए भी थोड़ा अधिक जानने लगे थे कि उन्हीं दिनों नेहरू जी का निधन हुआ था. उन्होंने शोक सभा आयोजित कर नेहरू जी पर अपना भाषण दिया. एक अजीब सा सम्मोहन छाया था उन दिनों कि उनके आदर्श गांधी, नेहरू और राजेंद्र बाबू थे, तो हम छात्रों के आदर्श गजेंद्र बाबू. लेकिन यह भी एक विडंबना है कि पढ़ाई के उन दो-तीन वर्षों के बाद फिर कभी उनसे भेंट नहीं हुई. लेकिन, आज उम्र के पचासवें वर्ष में पीछे मुड़कर देखता हूं तो लगता है कि उन्हीं की प्रेरणा से मैंने 'नेक आदमी' बनने की जो कोशिश शुरू की वह आज तक ज़ारी है. घर में नेक पुत्र, नेक भाई, नेक पति और नेक पिता, तो घर के बाहर नेक मित्र और जिस संस्थान में काम करता हूं वहां भी नेक कर्मचारी के रूप में ही जाना जाता हूं. हालांकि इस 'नेक' और 'शालीन' शब्द ने

मेरा नुकसान भी बहुत किया है. मैं 'बेचारा भला आदमी' बन कर रह गया. दुष्टताओं से भरी इस जटिल दुनिया में बहुत से अनुभवों से वंचित रह गया. जो एक लेखक के लिए ज़रूरी भी था. यूं जब विनोद कुमार शुक्ल को पढ़ता हूं तो लगता है बुरे पात्रों के बिना भी 'श्रेष्ठ' रचा जा सकता है. आज के झूठ-फरेब, हिंसा, भ्रष्टाचार से लबरेज़ दुनिया में 'नौकर की कमीज़' और 'दीवार में एक खिड़की थी' जैसे उपन्यासों की रचना भले कुछ लोगों को लेखकीय सरोकारों से अलग दीखता हो, लेकिन ऐसे प्रतिसंसार को रचना आसान काम नहीं है. मुझे तो इन उपन्यासों में जीवन अपने नैसर्गिक रूप में दिखायी पड़ता है, जिसे जीने की इच्छा किसी को भी हो सकती है.

सातवीं कक्षा के बाद गांव में पढ़ाई की सुविधा नहीं थी. करीब १५ किलोमीटर दूर मुरलीगंज कस्बे में स्थित एक प्रतिष्ठित बी.एल.एम.पी.स्कूल में मेरा नाम लिखवाया गया. इसी स्कूल के स्पार्ट्स टीचर श्री ब्रह्मकांत झा के पारिवारिक लॉज में मेरे रहने की व्यवस्था हुई. इस विद्यालय में योग्यतम शिक्षकों की एक अच्छी टीम थी. पढ़ाई ही नहीं, खेलकूद, संगीत, नाटक साहित्य सभी क्षेत्रों में यह विद्यालय अव्वल था. मेरी रुचि खेल में नहीं के बराबर थी, जबकि मेरे स्थानीय अभिभावक और स्पार्ट्स टीचर चाहते थे कि सूर्योदय से पहले ही हॉकी की स्टिक लेकर मैं मैदान में पहुंच जाऊं. रोज़ बहाने बनाते आख़िर तय हो गया कि खेल में मुझे रुचि नहीं है. यहीं मैं साहित्य के संपर्क में आया. स्कूल की लाइब्रेरी से प्रेमचंद, शरतचंद और रवींद्रनाथ टैगोर को पढ़ा. धीरेंद्र बाबू यहां विज्ञान शिक्षक थे लेकिन कवि के रूप में चर्चित थे. स्कूल में नाटक और सांस्कृतिक कार्यक्रम उन्हीं के जिम्मे था. उनकी अपनी निजी लाइब्रेरी भी थी. वे नयी से नयी क़िताबें और पत्रिकाएं मंगवाते रहते थे. बच्चन जी की आत्मकथा 'क्या भूलूं क्या याद करूं' और 'नीड़ का निर्माण फिर' मैंने पहली बार उन्हीं से लेकर पढ़ी थी. 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' और 'दिनमान' भी पहली बार उन्हीं के घर देखा. वे साहित्य जगत की ढेर सारी बातें बताते. उनका परिवार गांव में रहता था. वे जब भी कभी गांव या बाहर जाते तो कमरे की चाभी मुझे ही देकर जाते. उनके कमरे के बीच में बिस्तर था, एक तरफ़ टेबुल-कुर्सी और चारों तरफ़ क़िताबें ही क़िताबें. लेखकों की बड़ी-बड़ी तस्वीरें. मेरे लिए बड़ी रोमानी दुनिया थी यह. (इसका प्रभाव मुझ पर आज तक है कि मेरे आसपास क़िताबें न हों तो मुझे नींद नहीं आती है.) मैं घंटों उनके कमरे में बंद हो जाता. इन क़िताबों को उलटते-पलटते एक अजीब से सुख से भर जाता. हालांकि तब इनमें बहुत सी क़िताबों को नहीं समझता था फिर भी क़िताबों की यह दुनिया, मुझे अपनी दुनिया लगती.

मैट्रिक प्रथम श्रेणी में पास करने बाद भी घर में पढ़ाई ज़ारी रखने को लेकर चिंता हुई. बाबू जी इसे ही आख़िरी पढ़ाई मान कर चल रहे थे. उन्हें मेरी तीन बहनों की शादी की भी चिंता थी. बड़ी बहन की शादी हो चुकी थी, जिसमें काफी ख़र्च के बाद भी अच्छा रिश्ता नहीं मिला था. आख़िर, मां ने ही हिम्मत दिखायी और अड़ गयीं कि पढ़ाई ज़ारी रहेगी. उन्हीं दिनों मेरे एक चाचा श्री के. पी. सिंह जो डाक-तार विभाग में थे, का तबादला पटना हुआ. उन्होंने सलाह दी कि पटना में ही किसी कॉलेज में नाम लिखवा दीजिए, मेरे साथ रह लेगा. मां भी आश्वस्त हुईं कि बड़े शहर में अपना गार्जियन भी रहेगा. निर्णय लेते-लेते साइंस कॉलेज और बी. एन. कॉलेज में एडमिशन की तारीख़ निकल गयी. आखिर ए. एन. कॉलेज में एडमिशन मिला. गांव पर चाचा चूंकि हम लोगों से अलग थे, इसलिए एक समझदारी बनी कि समय-समय पर चावल, दाल-चुड़ा, घी आदि मेरे घर से भी जायेगा. मैं कई वर्षों तक गांव से पटना तक यही सब ढोता रहा. बाबू जी के दिये पैसे ख़र्च हो जाते तो चाचा से उधार लेता. बाबू जी बाद में लौटाते फिर भी बी. एस-सी. की पढ़ाई पूरी होते-होते यह कर्ज़ इतना अधिक हो गया कि चाचा जी को कुछ ज़मीन ही देनी पड़ी. इन्हीं अनुभवों से मैं यह समझ पाया कि इस देश में किसान बदहाल क्यों है ? कैसे छोटा किसान ज़मीन बेचते-बेचते सीमांत किसान और अंततः भूमिहीन कैसे हो जाता है ? एक क़िताब या एक इंजेक्शन ख़रीदने के लिए उसका बोरा भर अनाज भी कम पड़ जाता है. यदि कोई छोटा-मोटा ऑपरेशन भी करवाना पड़े तो बिना ज़मीन बेचे काम ही नहीं चलता. पिता जी के सभी अपने और चचेरे भाइयों में सिर्फ़ हमारा परिवार ही खेती पर निर्भर था. बाकी सभी लोग सरकारी या गैरसरकारी नौकरियों मे थे. मां, शायद इसलिए भी मुझे पढ़ाना चाहती थी कि पढ़-लिखकर मैं कोई नौकरी पा जाऊं और खेती पर निर्भरता कम हो. लेकिन मैं 'कैरियर कॉन्शस' कभी नहीं रहा. मैं तो कल्पना के संसार में ही विचरण कर रहा था. जिसमें 'कैरियर' से ज्यादा महत्वपूर्ण था साहित्य, कला-संस्कृति, समाजसेवा और राजनीति. ऐसा हर वह व्यक्ति मेरे आदर्श के चौखटे में फिट हो जाता जो इन क्षेत्रों में अग्रणी होता. लेकिन जब-जब मैं गांव जाता और मां-बाबू जी को हाड़तोड़ मेहनत करते देखता कि कैसे अगहन के महीने में वे लोग सौ-सवा सौ मन धान उसना करते ताकि अच्छा चावल तैयार हो सके और अच्छा दाम मिले. यही चावल, जूट, मूंग बेचकर मेरी पढ़ाई का ख़र्च भेजा जाता. मैं जल्द से जल्द कुछ करने की सोचता लेकिन पटना लौटते ही सब कुछ भूल जाता. लेखकीय ग्लैमर का प्रभाव सबसे अधिक था. 'सारिका' उन दिनों की सबसे अधिक चर्चित पत्रिका थी. जिसमें कहानियों के साथ लेखकों की कलात्मक तस्वीरें छपतीं. कमलेश्वर के संपादकीय का जादू सिर चढ़कर बोल रहा था. मैं सोचता एक दिन मेरी भी कहानी 'सारिका' में छपेगी और मैं रातोंरात विशिष्ट बन जाऊंगा.

लेखकों का प्रभाव तो मुझ पर इस कदर था कि जे.पी. मूवमेंट के दौरान जब अख़बारों में छपा कि इंदिरा गांधी की तानाशाही के ख़िलाफ़ पटना के लेखक अनशन पर बैठेंगे, तो इसे

पढ़कर मैं रोमांचित हो गया. उन्हें देखने मैं डाक बंगला चौराहे पर गया. लखनऊ स्वीट हाउस के बरामदे पर फणीश्वर नाथ रेणु, नागार्जुन, मधुकर सिंह, जुगनू शारदेय, रवींद्र राजहंस आदि कई लेखक-कलाकार बैठे थे. पीछे कई तरह के प्लेकार्ड लगे थे. थोड़ी दूर खड़े होकर मैं कुतूहल से उन्हें देख रहा था. रेणु जैसे स्टार लेखक को देखकर मैं मुग्ध था. नेता, पत्रकार, सामाजिक कार्यकर्ता मिलने आ रहे थे. मैंने देखा कि कुछ लोग फलों के पैकेट भी दे रहे थे. मुझे साहस मिला. मैं भी एक किलो संतरा ले आया और मौका देखकर रेणु जी के हाथ में थमा दिया. रेणु जी ने संतरे लिये और धन्यवाद में मुस्कराये. मुझे लगा जैसे मेरा दिन सार्थक हो गया.

साहित्य के साथ-साथ मुझमें सामाजिक और राजनैतिक आंदोलनों के प्रति भी आकर्षण था. ७४ से ७७ तक तो जयप्रकाश आंदोलन का मैं निकट का साक्षी रहा हूं. १८ मार्च ७४ को छात्र आंदोलन का हिंसक विस्फोट हुआ तो जयप्रकाश जी ने पटना विश्वविद्यालय के रमण छात्रावास में छात्र-युवाओं की पहली बैठक को संबोधित किया था मुश्किल से ७०-७५ लोग थे. इस बैठक में मैं भी था लेकिन बिना किसी पहचान और हस्तक्षेप के. तब से लेकर बाद की लाखों की सभाओं का मैं साक्षी रहा हूं. चाहते हुए भी आंदोलन का साझीदार नहीं बन सका. इसकी सबसे बड़ी वज़ह थी मेरा अंतर्मुखी होना. स्वयं को 'प्रोजेक्ट' करने की कला मैं आज तक नहीं सीख सका हूं. अब जबकि हिंदी के बड़े लेखकों-आलोचकों के बीच अक्सर ही उठना-बैठना होता है, मैं अपनी प्रकाशित चीज़ें भी नहीं दिखा पाता. जबकि कई मित्र-लेखक, इस कला में माहिर हो चुके हैं. गोष्ठियों-सेमिनारों में उनके जाने का मकसद ही यही होता है. औपचारिक सत्रों के बाद आधी-आधी रात तक उनका 'संपर्क साधो अभियान' ही चलता है. मित्र, कवि-कथाकार राजेंद्र आहुति जब कहते हैं कि पत्रिकाओं में छपना आजकल जुगाड़ पर होता है तो मैं विरोध करता हूं, लेकिन कई बार उनकी इस बात में दम भी होता है.

मेरे उन्हीं सपनों का एक इलाका सामाजिक आंदोलन भी था. कभी समता संगठन के किशन पटनायक को पत्र लिखता तो कभी मध्य प्रदेश में शिक्षा के क्षेत्र में चल रहे प्रयोगों और आंदोलन से कुछ सीखने के लिए 'किशोर भारती' संस्था को. उनके निमंत्रण भी आते लेकिन मां-बाबू की आंखों में पल रहा सपना मेरे सपनों के लिए बाधक बन जाता.

मेरे सपनों का क्षेत्र कभी-कभी सचमुच बहुत हसीन होता. मेरा मुंगेरीलाल कभी-कभार साहित्य, समाजसेवा या राजनीति से मुड़कर नृत्य और संगीत की महफ़िल में विचरने लगता. पटना में उन दिनों दुर्गा पूजा से शास्त्रीय नृत्य संगीत का कार्यक्रम शुरू होता तो छठ तक चलता. कभी मैं गोदई महाराज की तरह तबला बजा रहा होता तो कभी बिस्मिल्लाह खान की तरह शहनाई. कभी सितारा देवी के पांवों की थिरकन अपने पांवों में महसूस करता. तालियों की गड़गड़ाहट के साथ मेरे सपने बिखर जाते, जिन्हें बिखरना ही था.

लेकिन मेरे स्वप्न और यथार्थ के बीच कुछ रास्ता बना और मैंने साहित्य को ही अपना 'कम्फर्ट ज़ोन' (बकौल कथाकार मित्र नरेन) चुना. यह मेरे लिए सहज और सुरक्षित दोनों था. मैंने पहली कहानी 'जीवनक्रम' लिखी. उन दिनों पटना से 'कृतसंकल्प' नाम की एक पत्रिका निकलती थी, जो 'युवा द्वारा युवा के लिए' थी. इसके संपादक वाल्टर भेंगरा 'तरुण' थे, जो आजकल रांची में दूरदर्शन संवाददाता हैं. स्वीकृत होने के लगभग तीन महीने बाद 'कहानी विशेषांक' में कहानी छपी. उन तीन महीनों की प्रतीक्षा को याद करके मैं आज भी रोमांच से भर जाता हूं. अंक आया तो इसकी दस प्रतियां ख़रीद लीं. कुछ ख़ास मित्रों को दीं और बाकी सुरक्षित रख लीं. अगले अंक में मेरी कहानी पर कई चिट्ठियां छपीं. दूसरी कहानी कॉलेज की पत्रिका 'परिधि' में छपी. इस पत्रिका का संपादन कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह ने किया था. कुमारेंद्र जी के साहित्यिक कद से मैं परिचित था. इस कहानी के छपने से वे मुझे पहचानने लगे थे. शाम को 'क्लासेस' ख़त्म होने के बाद वे ए. एन. कॉलेज से प्रायः पैदल ही ढाई-तीन किलोमीटर दूर कॉफी हाउस आते. हम कुछ लड़के साइकिल का हैंडिल पकड़े साथ-साथ. उन्होंने ही पहली बार बताया था कि लेखक को रोज़ कुछ न कुछ लिखना चाहिए, डायरी ही सही.

साहित्य की दुनिया में पहली बार कुछ लोगों ने मुझे जाना तो 'पंचैती' कहानी से. पटना मेरा छूट चुका था. उन दिनों मैं सहरसा में रहकर प्रतियोगिता परीक्षाओं की तैयारी कर रहा था. शाम को एक चाय की दूकान पर नियमित बैठकें हुआ करती थीं. मैथिली के चर्चित कथाकार कवि महाप्रकाश के अलावा असीम कुमार आंसू, रणजीव, शशिभूषण, नरेंद्र और मनोज इन बैठकों के नियमित सदस्य थे. महाप्रकाश भाई को छोड़ हम सभी लगभग पाठक ही थे. हम लोगों में दो साम्य थे, एक तो हम लोगों की चिट्ठियां 'दिनमान' में छपा करती थीं, दूसरा हम सभी बेरोज़गार थे. यह साहित्य ही था जो हमें हताशा से बचाये हुए था. इन्हीं दिनों ही मैंने 'पंचैती' कहानी लिखी थी. एक दिन शाम को जब सभी अपने-अपने घर जाने लगे तो मैंने बहुत संकोच के साथ अपनी कहानी महाप्रकाश भाई को पढ़ने दी. अगली सुबह मैं सोया ही था कि महाप्रकाश भाई रणजीव के साथ हाज़िर - 'तुमने बहुत अच्छी कहानी लिखी है भाई ! रहा नहीं गया इसलिए बधाई देने चला आया. तुम्हें कहानियां लिखनी चाहिए ! इसे कहीं भेज दो.' लेकिन काफी दिनों तक यूं ही पड़ी रही कहानी. महीनों बाद एक पोस्टकार्ड मिला, 'प्रस्ताव' के संपादक हरिहर प्रसाद का - 'महाप्रकाश से पता चला आपने एक अच्छी कहानी लिखी है, 'प्रस्ताव' के लिए भेजिए. इस कहानी के छपते-छपते मैं रेल्वे की नौकरी में आ चुका था. इस कहानी ने जनवादी लेखकों से मेरा

परिचय कराया. मैं मुगलसराय में ड्यूटी करता और प्रायः ही पटना चला आता. शाम को कॉफी हाउस की अनौपचारिक गोष्ठियों में शामिल होता. हरिहर जी के अलावा कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, रामनिहाल गुंजन, गोपेश्वर सिंह, नचिकेता आदि अनेकों लेखक जुटते. इनके बीच उठते-बैठते, बहसते विचार आधारित, फॉर्मूलाबद्ध कहानियों से मेरा मोह भंग भी हुआ. मुझे महसूस हुआ कि कम से कम मेरी साहित्यिक संवेदना की यह असल ज़मीन नहीं है. जनवाद और कलावाद की अतियों के बीच मैं कहीं हूं. जिसमें व्यक्ति और समाज के मनोविज्ञान के साथ मानवीय संवेदना एक प्रमुख तत्व है. विचार रचना से ही निःसृत हो तो अच्छा.

उस दौर की जनवादी कहानियों में मुझे 'स्नॉबनेस' दिखायी पड़ रही थी और धनबाद कथा शिविर में शामिल होने के बाद मुझे यह 'स्नॉबनेस' इस धारा के अधिकांश लेखकों में भी दिखायी पड़ने लगी थी और इस सबसे अलग, मुझे वह समझ (जितनी भी है) कभी नहीं आयी होती यदी नुनु भैया (श्री गौरीशंकर सिंह) के साथ मेरा पत्राचार नहीं होता. किसी पत्रिका में छपी मेरी चिट्ठी पर भी उनकी चिट्ठी आती, कहानियों पर तो आती ही. वे दूसरे लेखकों की भी, जो उल्लेखनीय होती उस पर ज़रूर लिखते. हम जब भी मिलते साहित्य ही बतियाते. वे स्वयं एक अच्छे आलोचक हो सकते थे, लेकिन आलस्य उनका भी दुश्मन रहा. उनकी चिट्ठियां मेरे लिए किसी धरोहर से कम नहीं हैं. उन पत्रों में मेरी कहानियों की प्रशंसा कम, कमज़ोरियों को ही वे रेखांकित करते. एक बार समीक्षक रविभूषण जी ने कुछ चिट्ठियां पढ़ीं तो कहा कि 'आपको तो किसी पेशेवर आलोचक की ज़रूरत ही नहीं है.'

नुनु भैया, दो बातों का ज़िक्र अक्सर किया करते हैं. एक तो यह कि लेखक को परकाया प्रवेश की कला आनी चाहिए. जो कि मैं आज तक नहीं सीख पाया हूं. ख़ासकर बुरे लोगों के प्रति एक 'रिजेक्शन' का भाव मुझमें शुरू से रहा है, इसलिए ऐसे लोगों पर कहानी लिखने से कतराता हूं. दूसरी बात, जब-जब मेरे लेखन के बीच 'गैप' बढ़ता है और मैं अपनी व्यस्तता का रोना रोता हूं तो वे कहते हैं कि लेखक को कभी-कभी असामाजिक हो जाना चाहिए. अब उन्हें अपने उस अंतर्विरोध को कैसे बताऊं कि जो मेरे लेखक की कमज़ोरियां हैं, वही मेरे व्यक्ति की अच्छाइयां हैं.

अपनी लेखकीय निरंतरता न होने के मामले में मैं स्वयं भी कम दोषी नहीं हूं. कई चीज़ें एक साथ साधने के चक्कर में मेरा एक भी अच्छे से नहीं सधता है. 'पंचैती' से मिली मान्यता से मुझे साहित्य और कहानी में ही टिके रहना चाहिए था, लेकिन मुगलसराय आने के बाद मुझे सरूर अली अंसारी का साथ मिला और मैं रंगमंच पर 'होलटाइमर' की तरह सक्रिय हो गया. नाटक ही ओढ़ना, बिछौना हो गया था. छुट्टियां ले लेकर कभी जमशेदपुर, कभी बरेली तो कभी बनारस. लेकिन पांच-छः वर्षों बाद ही मुझे नाटक बंद करना पड़ा. कारण था नौकरी और घर का दबाव और वे अंतर्विरोध भी, जिनकी वज़ह से संस्थाएं टूटती हैं. ....तो नाटक छोड़ने के बाद पुनः कहानी की ओर लौटा. एक कहानी लिखी 'काले कोट का सफ़ेद दिन'. जिसमें अपनी समझ से मैं उस प्रभाव से मुक्त हो गया था, जो 'पंचैती' पर था. इन्हीं दिनों कथाकार काशीनाथ सिंह के संपर्क में आया. उनका एक संग्रह 'कल की फटेहाल कहानियां' मैं पढ़ चुका था. तभी से कहानी के बारे में मेरी अवधारणा काफी हद तक बदल चुकी थी. पहली मुलाकात में उत्साहातिरेक में मैंने कहा कि 'मैं तो आपकी जैसी कहानियां लिखना चाहता हूं'. काशीनाथ जी ने तुरंत मेरी बात को काट दिया - 'गलत सोचते हैं आप ! सबको अपनी जैसी कहानी लिखनी चाहिए.' बाद में जब उन्होंने 'पंचैती' और 'काले कोट का सफ़ेद दिन' पढ़ीं तो एकदम दो टूक राय दी - 'पंचैती' तो मुझे अच्छी नहीं लगी, हां, 'काले कोट का सफ़ेद दिन' बहुत अच्छी बन पड़ी है. आपको रेल जीवन पर और कहानियां लिखनी चाहिए ! और मैंने रेल जीवन पर कई कहानियां लिखीं, लेकिन इतने अंतराल पर कि कोई भूल भी जाय कि मैं लेखक भी हूं. काशीनाथ जी पहले अक्सर पूछते थे - 'इधर कुछ लिखा ?' अब वे भी मान चुके हैं कि मैं सुधरने वाला नहीं हूं. इसलिए कभी-कभार किसी मित्र से मुझपर टिप्पणी करते हैं कि एक कहानीकार है जो अच्छा लिख सकता है लेकिन अपने को नष्ट कर रहा है.

मेरे बहुत सारे मित्र भी मुझसे न लिखने की शिकायत करते हैं. मेरा जबाव होता है - मैं नहीं लिख पा रहा हूं इसका यह मतलब नहीं कि अपने समय को मैंने व्यर्थ गंवाया है. ऐसे समय में मैंने स्वयं को अच्छा मनुष्य बनाने की कोशिश की है. जो लोग मेरी दिनचर्या और काम से परिचित हैं उन्हें मालूम है कि मेरी ज़िंदगी के 'सफ़े' खाली नहीं हैं. मुझे प्रबंधन की कला नहीं आती है, इसलिए हर मोर्चे पर आधा-अधूरा रहा हूं. मेरे साथ के कई लोग जो नौकरी में आये, पूरी तरह गृहस्थ बन गये. ख़ासकर गांव से आये किसी शहर में नौकरी करने का मतलब होता है, शहर में प्लॉट, मकान, स्कूटर, कार, शिमला-मसूरी की सैर, बच्चों का महंगे स्कूलों में दाखिला, कोटा-दिल्ली में कोचिंग, उससे भी नहीं हुआ तो कैपिटेशन फी देकर इंजीनियरिंग और मेडिकल की पढ़ाई. लेकिन बाइस साल पहले नौकरी में आने वक़्त मैं जहां था, लगभग वहीं खड़ा हूं. बच्चे सरकारी स्कूलों में ही पढ़े, धारा के विपरीत वे मानविकी और भाषा की पढ़ाई कर रहे हैं जिनका भविष्य अनिश्चित है. कभी-कभार तो लगता है कि जब येन-केन प्रकारेण कमाये गये पैसों से, ख़रीदी गयी सुविधा से, देर-सबेर जब लोगों को सामाजिक प्रतिष्ठा मिल ही जाती है, फिर क्यों किसी भी प्रकार की नैतिकता से बंधे रहा जाय. मैं जिस समाज में रहता हूं वहां सफल व्यक्ति उसी को माना जाता है जिसने एक अदद मकान बनवा लिया हो. बच्चों

को कर्नाटक और महाराष्ट्र के इंजीनियर कॉलेज, मेडिकल कॉलेजों से इंजीनियर या डॉक्टर बनवा दिया हो या रिटायर होने तक किसी न किसी जुगाड़ से गार्ड, ड्राइवर या टी. सी. की नौकरी दिलवा दी हो. एक हताशा का भाव मेरे मन में भी आता है और कई बार स्वयं को पत्नी और बच्चों के सामने कटघरे में खड़ा महसूस करता हूं. लेकिन जब देखता हूं कि देश की आधी से अधिक आबादी मुझसे भी पीछे है, तो अपना दुःख बहुत कम लगता है. बच्चों के रहन-सहन और विचारों से लगता है धीरे-धीरे वे जीवन के बारे में एक सही दृष्टिकोण विकसित कर लेंगे. वे तथाकथित आधुनिकता के पाखंड को समझने लगे हैं.

अपने वैवाहिक जीवन के छब्बीस वर्ष बीत जाने के बाद, अब लगता है कि हम दोनों एक दूसरे के लिए ही बने थे. प्रारंभ में सोच के स्तर पर हमारे बीच बहुत बड़ा 'गैप' था. लेकिन धीरे-धीरे उसने स्वयं को मेरे लिए अनुकूलित कर लिया. पत्नी के त्याग और समर्पण के सामने मेरा सामंती पुरुष मन धीरे-धीरे पिघल गया. उसने मेरे मित्रों और रिश्तेदारों की तथाकथित ऊंची डिग्री वाली पत्नियों की अहंमन्यता झेलकर भी आतिथ्य में जूठे बर्तन साफ़ किये हैं. गॉल ब्लैडर स्टोन के दर्द से छटपटाती रही है और दर्द से थोड़ा भी आराम मिलने पर दस-दस अतिथियों को खाना बनाकर खिलाया है. छोटे से रेल्वे क्वार्टर में कोई तख़्त और बिस्तर नहीं बचा है और वह फटी चादर बिछाकर बरामदे या किचन के फ़र्श पर सो गयी है. पत्नी पर इतनी ज्यादा भावनात्मक ज्यादतियां करता रहा हूं कि मुझ पर 'इमोशनल ब्लैकमेलिंग' का मुकदमा किया जा सकता है.

मेरी नौकरी और गृहस्थी के कुछ यादगार लम्हे हैं जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता. ...दीपावली जैसा त्यौहार है और मेरी ज़ेब खाली है. मैं घर में बच्चों की उत्सुकता को 'डायवर्ट' करने की कोशिश कर रहा हूं कि त्यौहारों के अधिकांश ख़र्च फालतू होते हैं. पटाखों के खिलाफ़ भाषण देता हूं. पत्नी पूछती है - 'क्या सचमुच पैसे नहीं हैं ?' मैं दुःखी मन से कहता हूं -' सचमुच नहीं हैं.' पत्नी अपनी गुल्लक लाकर रख देती है. 'देखिए, कितना निकलता है ?' बच्चे घेर लेते हैं, गुल्लक टूटती है, बच्चे नोट और सिक्कों को अलग-अलग छाटते हैं. कुल मिलाकर नौ सौ बत्तीस रुपये हैं. मेरे शरीर में स्फूर्ति आ जाती है. मैं थैला लेकर बाजार की ओर. पत्नी मुस्करा रही है.

मैं कई दिनों बाद गांव से लौटा हूं. ऑफिस में पता चला कि टिकट चेकिंग के लिए जपला (पलामू) जाना है. १५ दिनों का कैंप है. नहीं जाने वाले के खिलाफ़ प्रशासनिक कार्यवाही होगी. इधर छोटा लड़का बीमार है. तेज बुखार है. मेरे पास मात्र ६० रुपये हैं. रात में ही जपला के लिए निकलना है. मैं द्वंद्व में फंसा हूं. सोचता हूं किसी से उधार लेकर दो-चार सौ रुपये दे दूं, सुबह किसी डॉक्टर को दिखा देगी. लेकिन खुद पर खीझता हूं. कौन विश्वास करेगा कि मेरे पास दो-चार सौ रुपये भी नहीं हैं. मन ही मन एक निर्णय ले रहा हूं कि अब सब कुछ छोड़कर पैसा कमाना है. और कल से ही लग जाना है. स्वयं को 'टॉर्चर' करने के लिए ही किसी से उधार नहीं लेता हूं. ३० रु. पत्नी को देता हूं और ३० रु. स्वयं के ख़र्च के लिए रखता हूं, जबकि इतने में दोनों काम संभव नहीं हैं. लेकिन जीवन में कभी-कभी कुछ ऐसा घट जाता है जो किसी चमत्कार से कम नहीं होता. रात में जपला जाने के लिए डेहरी-ऑन-सोन पहुंचता हूं जहां मेरे अधिकारी पहले से पहुंचे हुए थे. पता चलता है जपला का प्रोग्राम स्थगित हो गया है, डेहरी-ऑन-सोन में ही चेकिंग कर लौट जाना है. शाम को घर लौटा तो पता चला बेटे का बुखार बिना किसी दवा के उतर चुका है.

एक बार ड्यूटी के दौरान बिना टिकट सफ़र कर रहे एक लड़के को दूसरे के बर्थ पर कब्जा कर लेने पर मैंने दो-चार थप्पड़ लगा दिये हैं. बाद में पता चलता है कि वह मानसिक रूप से विकलांग है, घर से निकल आया है. मुझे अपने गुस्से को लेकर ग्लानि हो रही है. उसे मैंने अपनी सीट पर बिठाया है. फिर भी बेचैन हूं. बाथरूम जाता हूं, वहां स्वयं को कई थप्पड़ लगाता हूं. इस घटना का जिक्र जब मैंने गौतम सान्याल से किया तो उसने कहा - 'बहुत कम दिन बचोगे दादा !'

...और अंत में, रेल के और अपने बीच संबंध के बारे में कुछ न लिखूं तो बेईमानी होगी. यात्रा के ख्याल से रेल भले सुखद शब्द रहा हो, रेल में नौकरी का आकर्षण कभी नहीं रहा. रात-रात भर जागकर नौकरी करते देखना ही असहज लगता. लेकिन रोज़ी-रोटी के लिए अंततः ठौर मिली तो रेल में ही. रेल्वे में भी जिस टिकट चेकिंग की नौकरी में मैं आया यह मेरी अंतिम पसंद थी. जबकि आज भी बहुत से अभ्यार्थियों की यह पहली पसंद होती है. अब जबकि इस नौकरी और इस शहर में मेरा २३वां वर्ष चल रहा है. मेरे भीतर पहले वाली कुंठा नहीं है. इस नौकरी ने मुझे जीवन के अनगिनत रंग दिखाये हैं. सैकड़ों अच्छे मित्र दिये हैं और मेरे लेखक को विराट रचनात्मक अनुभव. रेल ने मुझे भारतीय समाज की जटिल संरचना को समझने की दृष्टि दी है, सेवा की भूख मिटायी. हांलाकि सुविधा होते हुए भी बहुत नहीं घूम पाया हूं लेकिन लगता है देश के किसी भी भाग में चला जाऊं, वहां के लिए 'आउटसाइडर' नहीं रहूंगा. मैंने साधारण दर्ज़े में चलने वाले की उदारता भी देखी है और ए.सी. फर्स्ट क्लास वालों की क्षुद्रता भी. और यह शहर जिसे मैंने प्रारंभ में अपनी कलम से बहुत कोसा, आज मेरे लिए दिलचस्प कथादेश है. यह शहर मुगलसराय जो बिहार और उत्तरप्रदेश के पूर्वांचल के लिए न्यूयॉर्क या मुंबई से कम नहीं है. जहां लोग रातोंरात करोड़पति बन जाते हैं. मेरे लिए यह आज भी एक सराय ही है, जहां कुछ वर्ष और गुज़ारने के बाद घर लौट जाना है. लेकिन चाहूंगा कि अपने लेखक होने को प्रमाणित करूं और इस शहर का कर्ज़ उतारकर ही जाऊं. सही मायने में मेरी 'मुक्ति' उसी दिन होगी. ◆

सागर / सीपी

'देश का दूरगामी भविष्य उज्ज्वल है'

- डॉ. रामविलास शर्मा

*('**कथाबिंब**' के लिए मुंबई के माटुंगा स्थित, खालसा कॉलेज के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डॉ. त्रिभुवन राय ने डॉ. रामविलास शर्मा से यह साक्षात्कार १९९९ में कई मुलाकातों में लिया था. यथार्थवाद और प्रगतिशील के समर्थक डॉ. शर्मा ने बहुत से अनछुये विषयों पर बातें की थीं. कभी डॉ. राय की अतिव्यस्तता और कभी अस्वस्थता के कारण यह आलेख आकार नहीं ले पाया. प्रस्तुत है भेंटवार्ता की पहली किश्त. - संपादक)*

२१ अगस्त, १९९९, विकासपुरी, नयी दिल्ली.

● **डॉ. साहब आज-कल आप क्या लिख रहे हैं ?**

भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास.

● **मैं थोड़ा चौंका. यथार्थवाद और प्रगतिशीलता को लेकर चलने वाले डॉक्टर साहब सौंदर्यबोध, फिर भारतीय सौंदर्य बोध के आवर्त में कैसे कूद पड़े. भारतीय संदर्भ में आध्यात्मिक सौंदर्य की बात तो समझ में आती है, पर पश्चिम के भौतिकतावादी सौंदर्य के धरातल पर संत तुलसीदास के आकलन की बात कुछ अजीब सी लगी. डॉक्टर साहब ने जैसे मेरे मन की बात ताड़ ली. उन्होंने कहना शुरू किया -**

भारत में यथार्थवाद का जितना विकास हुआ है, उतना योरप में नहीं. इंद्रियबोध की हमारे यहां कभी उपेक्षा नहीं की गयी. वेदों और उपनिषदों में आत्मा को इंद्रियों का विरेचक कहा गया है. वैशेषिक दर्शन में आत्मा द्रव्य है, ईश्वर शक्ति है और यदि वह शक्ति है तो उसका अनुभव करना चाहिए. उपनिषदों में दो धाराएं रही हैं, एक भौतिकवादी धारा और दूसरी आध्यात्मिक. भौतिकवादी धारा आध्यात्मिक धारा से तनिक भी कमज़ोर नहीं रही है. उपनिषदों के अनुसार मनुष्य पदार्थों का अनुभव नहीं करता, वह उनकी इमेज क्रिएट करता है. यथार्थवादी चिंतन सौंदर्यशास्त्र के लिए पुष्ट आधार देता है. इसलिए यह सोचना कि सौंदर्यशास्त्र की परंपरा पश्चिम से हमारे यहां आयी केवल भ्रम है. अठारहवीं शती में भौतिकवाद का विकास योरप में होता है. उससे प्रभावित होकर एडिसन ने इमैजिनेशन की थ्योरी - 'प्लेजर ऑफ इमैजिनेशन' बनायी. रामचंद्र शुक्ल ने अनुवाद के लिए एडिसन को ही क्यों चुना ? उन्होंने डॉ. जॉन्सन को क्यों नहीं चुना! असल में, शुक्ल जी ने भौतिकतावाद के झुकाव का प्रमाण हैकल और एडिसन में देखा. इसलिए उन्होंने इनका चुनाव किया. 'विश्व प्रपंच' की भूमिका हिंदी में अद्वितीय है. ऐसा लेख फिर किसी ने नहीं लिखा. साहित्य के मामले में शुक्ल जी की पकड़ गहरी थी. पाश्चात्य दर्शन और पाश्चात्य विज्ञान का शुक्ल जी ने गहराई से अध्ययन किया था. महावीर प्रसाद द्विवेदी का झुकाव भी प्राचीन दर्शन और आधुनिक विज्ञान की ओर था. उन्होंने 'सरस्वती' में हैकल पर लेख छापे. शुक्ल जी के पहले विकासवादी हैकल की ओर द्विवेदी जी की नज़र पड़ी थी. शुक्ल जी ने रैडिकल ऑफ द यूनिवर्स का अनुवाद बाद में किया.

● **पुस्तक की विषय वस्तु और अध्याय क्रम पर तनिक विस्तार से बतलायें.**

इसके आरंभ में अथवा यों कहें कि पहले खंड में तीन अध्याय होंगे - पहला वैदिक कवियों का सौंदर्य बोध, भारतीय दर्शन और सौंदर्य बोध, नगर सभ्यता और कला का सौंदर्य बोध. इसके बाद तुलसीदास आयेंगे. उसमें कितने अध्याय होंगे अभी कह नहीं सकता पर चार-पांच अध्याय तो होंगे ही. भारतीय सौंदर्य शास्त्र से अनुप्राणित तुलसीदास राम कृष्ण के सौंदर्य का बार-बार वर्णन करते हैं. इसलिए इस विषय ने ध्यान आकृष्ट किया.

वैदिक साहित्य में यथार्थवाद की प्रबल धारा मिलती है. हमारा वैदिक वांगमय शरीर एवं इंद्रियों की उपेक्षा नहीं करता. शरीर विज्ञान के संबंध में वर्णित तथ्यों को वैदिक इन्डेक्स में देख सकते हैं. एनॉटामी के बारे में चरक संहिता में दुहरायी गयी बातों की परंपरा ऋग्वेद से चलती है. अथर्ववेद में एड़ी से कपाल तक का वर्णन हमारा ध्यान खींचता है. नृत्य वगैरह में भी यह चीज़ें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं. भरत के नाट्य शास्त्र में अंग-विक्षेप का जिस सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है उसमें उक्त परंपरा को सरलता से लक्षित किया जा सकता है. नृत्य का विकास, इसीलिए जैसा हमारे यहां हुआ वैसा पश्चिम में नहीं हुआ. इसे नृत्य की विभिन्न मुद्राओं के वैशिष्ट्य से परखा जा सकता है. नृत्य का वर्णन ऋग्वेद में बार-बार आता है. यहां स्त्रियों के साथ पुरुष भी नृत्य करते हैं. इस तरह आत्माभिव्यक्ति का पहला रूप नृत्य के रूप में सामने आता है. शिव और कृष्ण हमारे यहां नृत्य के देवता के रूप में प्रसिद्ध हैं. योरप में नृत्य का कोई देवता नहीं.

● **मनुस्मृति में नृत्य की निंदा की गयी है इस संबंध में आप क्या कहना चाहेंगे ?**

त्रिभुवन जी ! हमारे यहां का पुरोहित वर्ग महाधूर्त रहा है. यह निंदा उसी की संकीर्णतावादी दृष्टि का परिचायक है. अपने स्वार्थ के लिए उसने दर्शन और कलाओं में भी दखल-अंदाजी की

है. जैसा कि कह चुका हूं, भारत में यथार्थवादी दर्शन की अवधारणा आरंभ से रही है, पर पुरोहित वर्ग ने उसके स्थान पर ईश्वर को प्रतिष्ठित करके उसे भाववादी - आदर्शवादी दिशा दी. भरत के नाट्य शास्त्र में सारे अभिनेता शूद्र हैं. भरत शब्द स्वयं अभिनेता का वाचक है. नाट्य शास्त्र में भरत कहते हैं, मैंने इंद्र महोत्सव पर नाटक किया और विघ्नकारी शक्तियों ने विघ्न उपस्थित किये. प्रेक्षागृह की सुरक्षा के लिए इसीलिए नाट्य शास्त्र में देवताओं को प्रसन्न करने के विधान का वर्णन किया गया है. जहां तक विघ्न की बात है आज भी विरोधी शक्तियां कम सक्रिय नहीं. सफ़दर हाशमी की मौत इसका एक ताजा उदाहरण है. यहां एक बात नोट करने लायक है कि कला के क्षेत्र में, आरंभिक दौर में, हमारे यहां शूद्र और द्विज की बात नहीं थी. लोक संस्कृति और लोकधर्म की प्रधानता वहां ज़रूर रही है. शिव और कृष्ण के अस्तित्व से इसका साफ़ संकेत मिलता है.

● **डॉ. साहब हमारे यहां शिव और कृष्ण दोनों को योगी कहा गया है, तो नृत्य का क्या योग से भी कोई संबंध है ?**

आपने बिल्कुल सही सवाल किया है. नर्तक और नर्तकी को एक योगी की तरह अपने अंगों को साधना पड़ता है. हेमा मालिनी को देखिए तो नृत्य करते समय उनकी मुद्राएं, भाव भंगिमाएं देखते ही बनती हैं. नृत्य में उनके अंगों का संतुलन अद्भुत होता है. असल में वह संगीत और नृत्य की बहुत बड़ी जानकार हैं. उन्होंने शरीर को योगी की तरह साधा है. शरीर की साधना योग की ही क्रिया है.

भारत में नृत्य क्या कोई भी दर्शन, वह वेदांत ही क्यों न हो योग के बिना नहीं चलता. योग, सांस को साधे बिना प्राणायाम नहीं, प्राणायाम के साधे बिना मन नहीं सधता. यहां के दर्शन का बहुत बड़ा स्रोत-ग्रंथ महाभारत है. महाभारत में सांख्य का शुद्ध रूप देखने को मिलता है. सांख्य के चौबीस तत्वों (मूल तत्व प्रकृति, प्रकृति से महत तत्व बुद्धि, बुद्धि से अंहकार, अंहकार से पांच ज्ञानेंद्रियां, पांच कर्मेंद्रियां, मन और पांच तन्मात्राएं - शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध और पंच तन्मात्राओं से उद्भूत पंच महाभूत - आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी) में ईश्वर को स्थान नहीं मिला है. अव्यक्त सृष्टिमन, बुद्धि, अहंकार आदि तत्वों में बुद्धि के इवैल्यूशन के रूप में ही सृष्टि का विकास क्रम लक्षित होता है. विष्णु भगवान की कल्पना की बात तो बाद में सामने आती है.

● **नगर सभ्यता और कलाओं के सौंदर्य बोध वाले अध्याय की विषय वस्तु पर कुछ रोशनी डालें.**

भवन बनाना, इस तरह से नगर निर्माण की योजना हमारे देश में बहुत पुराने समय से पायी जाती है. सिंधु घाटी सभ्यता इसका अच्छा प्रमाण पेश करती है. टाउन प्लानिंग भारत में सबसे पुरानी परंपराओं में एक रही है. वास्तुकला पर यहां असल में अच्छी तरह से विचार किया गया है. अनेक ग्रंथों में मकान बनाने की योजना, गलियों के लिए अवकाश जैसी बातों पर बहुत बारीकी से बातें कही गयी हैं. अग्नि पुराण में शहर कैसे बनाना चाहिए, इसका अच्छा वर्णन मिलता है. गांव कैसे हों ? शहर कैसे हों ? कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी इन पर अपने विचार सामने रखता है. श्रम विभाजन की बात हमारे यहां बहुत पहले से रही है. सेना में ब्राह्मणों की अधिक संख्या में भर्ती नहीं होना चाहिए. इस बात पर साफ़ तौर से बल दिया गया है. क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की सेना की परंपरा यहां रही है. लेकिन सब कुछ अर्थ केंद्रित रहा है और यह अर्थ धरती है. मनुष्य उससे कितना और कैसे अर्जित कर सकता है, अर्थशास्त्र उसका विधान करता है. अर्थशास्त्र हमारे यहां राजनीतिक अर्थशास्त्र की परंपरा विकसित करता है. मनुष्य के पेशे को किस तरह से ऑर्गनाइज़ किया जाये, योजनाबद्ध तरीके से विकसित किया जाये, इसकी झांकी अर्थशास्त्र में मिलती है. 'प्रैक्टिकल इंडिया' में मोहनजोदड़ो, हड़प्पा में उत्पादन और वितरण प्रणाली का जो स्वरूप प्राप्त होता हैं, मौर्य साम्राज्य और चंद्रगुप्त के समय उसका पर्याप्त विकास होता है.

● *(बीच में टोकते हुए)* **हमारे यहां विभिन्न परंपराओं के संदर्भ में मनुस्मृति को तो अक्सर उद्धृत किया जाता है, पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र को नहीं, आखिर ऐसा क्यों ?**

मनुस्मृति के आधार पर हमारी परंपराओं को अक्सर तोड़-मरोड़ कर पेश किया जाता है. स्त्री का ही उदाहरण लें. स्त्री को हमारे यहां कम स्वतंत्रता नहीं रही है. अर्थशास्त्र काल में उसे पर्याप्त स्वतंत्रता मिली हुई है. जिससे भी श्रम कराया जाये उसे पैसा दिया जाये. इस तरह वेतन का विधान अर्थशास्त्र में साफ़ तौर पर किया गया है. मजदूर को उस समय भृत्य कहा जाता था. संभावित वेतन के तहत मालिक और मजदूर के बीच करार होता था. असंभावित वेतन के चलन के अंतर्गत पंचों को इकट्ठा करके मजदूरी तय की जाती थी. राजा के मंत्री और राजकुमारों के वेतन भी बंधे होते थे. राज्य का सबसे बड़ा कारीगर राजकुमार के वेतन के बराबर के वेतन का हकदार होता था. यह उस सामंती युग का सच है. चाणक्य और जनरल सिकंदर के गुणों की लड़ाई असल में ब्राह्मणवाद के पुनरुत्थान को आधार प्रदान करता है. चाणक्य की दृष्टि का प्रसार ही चंद्रगुप्त के शासन की विशेषताएं हैं.

● **संभवतः अर्थशास्त्र के आस पास ही नाट्य शास्त्र भी लिखा गया था तो क्या उसमें भी समाज के यथार्थ की अभिव्यक्ति मिलती है ?**

निःसंदेह, अर्थशास्त्र के आस-पास ही भरत का नाट्य शास्त्र लिखा गया था. इसमें नाट्य विवेचन के संदर्भ में युग की सच्चाइयां भी आयी हैं. भरत ने नाटक भी लिखे थे. उन नाटकों में सामाजिक यथार्थ के साथ नाट्य का व्यवहारिक स्वरूप भी आया होगा!

● **डॉक्टर साहब, ऋग्वेद के समाज के स्वरूप की विशेषता आपकी दृष्टि में क्या रही है ?**

देखिए ऋग्वेद के जितने देवता हैं वे सब युद्ध और खेत से संबद्ध हैं. असल में ट्राइबल समाज में युद्ध और वीरता प्रशंसनीय भाव से देखे जाते थे. प्रशस्तिकाव्य का विकास सबसे पहले

नाराशंसी के रूप में यानि स्तोत्र पंरपरा और दानपरक स्तुतियों के रूप में सामने आता है. चारण परंपरा ऋग्वेद में बहुत व्यापक रूप में पूरे भारत में पायी जाती है. किसी भी भाषा के विकास में आरंभ में चारण काव्य ही मिलेगा. इसमें मनुष्य की प्रशस्ति का भाव तो बाद में विकसित होता है. देवों की प्रशस्ति उनके अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में दिखाई देती है. वर्षा, सूखा सभी को देवों से जोड़कर देखा गया. पहले लोग इंद्र को व्यक्ति मानते होंगे बाद में वह व्यापक शक्ति के केंद्र बन गये. नव्य काल में नये कवियों ने उन्हें इसी रूप में देखा. आरंभ में हमारे यहां एक ऐसा समाज था जहां सभी स्त्रियों को माताओं के रूप में देखा गया - आत्म मातरः. सभी पुरुष एक साथ रहते थे. पुरुष सत्ताक समाज में धीरे-धीरे निजी पूंजी का विकास होता है. ऋग्वेद में संतान की कामना का भाव स्पष्ट है. संपत्ति किसको दी जाये, यह भाव यहां किसी न किसी रूप में अवश्य छिपा है. सामाजिक विकास की तस्वीर महाभारत में और साफ़ रूप में उभरती है. यहां कामाचार पर निषेध नहीं था और विवाह के बंधन भी नहीं थे. उद्दालक ऋषि ने ही यह नियम पहले पहल बनाये थे. मगध कोशल शूरसेन, कुरू और उत्तर में गांधार जैसे गण-समाज उस समय विद्यमान मिलते हैं. महाभारत में विकसनशीलता के तत्व स्पष्ट हैं. इसलिए उसमें एक ही समय की रचना की बात ठीक नहीं. अनेक युगों की रचनात्मक झांकी वहां साफ़ तौर पर मिलती है. ऋग्वेद में भी यही बात है इसलिए विकसित और अविकसित दोनों ही स्थितियां वहां आपको मिल जायेंगी. इसको आप बंगाल के विकसित समाज और संथाल के पिछड़े समाज को सामने रखकर तौल सकते हैं. आदिवासी और सामंतीय गणों के बीच वैर और वैर का शोध सामान्य बात थी. रक्तपात करना, वैर शोध के लिए वहां साधारण बात थी. यह पिछड़े समाज की निशानी थी.

- **ऋग्वेद में ऐसा कहीं नहीं हुआ है. आखिर क्यों ?**

इसलिए कि ऋग्वेद का समाज अपेक्षाकृत विकसित है. खेतीबाड़ी का उल्लेख महाभारत में बहुत कम मिलता है. यहां का समाज वनवासी समाज है. नियोग की प्रथा महाभारत में खूब प्रचलित है. ऋग्वेद में यह बात नहीं है. इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद का समाज बहुत विकसित था. महाभारत का समाज - कुरू पांचाल का समाज जल प्लावन के बाद का समाज है. आज का कुरू क्षेत्र ऋग्वेद का समाज है. सरस्वती के किनारे बसा और विकसित, पंडितों और पुरोहितों की स्रोत भूमि कुरू पांचालों का प्रदेश है. यह दिल्ली, गुड़गांव और सहारनपुर का क्षेत्र है. सामाजिक विकास की प्रक्रिया को सीधी रेखा में देखना ठीक नहीं होगा. अलग-अलग समाज के विकास की अलग-अलग कहानी है. कृष्ण की भूमिका असल में ट्राइबल सिस्टम को तोड़ना रहा है. गण समाजों के प्रतिनिधि युधिष्ठिर हैं. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें कृष्ण की दृष्टि मिलती है.

- **ऋग्वेद काल में कवियों का आर्थिक जीवन कैसा था ?**

ऋग्वेद काल में कोई ऐसा कवि नहीं जो शारीरिक श्रम न करता हो. इसके दसवें मंडल के १०१ वें सूक्त में वह साथियों को संसार के पहले श्रमिक के रूप में संबोधित करता है. एक साथ उठें, जागें, कुंआ खोदें, इस तरह के सारे काम करने के लिए वह कहता है. दासप्रथा और शूद्रों के बारे में वहां कोई क्षुद्र बात नहीं कही गयी है. कोई काम न शूद्र करता है न दास, सब ऋषि करते हैं. बर्तन बनाने में, कारीगरी करने में देवता की कल्पना की गयी है. त्वष्टा - कारीगर देवता, रिभु - बर्तन-मूर्ति बनाने वाले देवता और लड़ने के लिए तो देवता की स्तुति है ही. सच पूछिए तो ऋग्वेद की रचना वीरगाथा काल में हुई है. वीरगाथा काल का मूल लक्षण है मनुष्य की स्तुति और ऋग्वेद में यह भरपूर मात्रा में मिलती है.

- **डॉ. साहब ! ऋग्वेद को आपने मूल संस्कृत में पढ़ा अथवा अनुवादों के सहारे उसे समझा है ? आखिर, संस्कृत का अध्ययन आपने कब और कैसे किया ?**

हमारे संस्कृत के गुरू बहुत अच्छे थे. हाईस्कूल की परीक्षा पास करने के पहले 'लघु सिद्धांत कौमुदी' पढ़ ली थी और व्याकरण की प्रथम परीक्षा भी पास कर ली थी. यह सन् १९२८ की बात है. इंटर में भी संस्कृत एक विषय था. संस्कृत की हमारी बचपन की बैकग्राउंड रही है. झांसी में हाईस्कूल में हमारे संस्कृत के अध्यापक श्री विष्णुशास्त्री जी बहुत अच्छे अध्यापक थे. जिन गुरूजी लीलाधर शास्त्री ने मुझे लघु सिद्धांत कौमुदी पढ़ायी थी, वह संस्कृत की पाठशाला चलाते थे. उसमें मैं भी जाया करता था. व्याकरण की मेरी पीठिका विष्णुशास्त्री जी ने पहले ही काफ़ी मजबूत कर दी थी. के. एम. इन्स्टीट्यूट, आगरा में व्याकरण के ऊपर बहुत काम किया और पाणिनी की अष्टाधायी भी वहीं पढ़ी. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी में एक लेख पाणिनी के ऊपर भी है. के.एम. इन्स्टीट्यूट छोड़ने के बाद भाषा विज्ञान के संदर्भ में हम लायब्रेरी का उपयोग किया करते थे.

- **देश के वर्तमान परिदृश्य के संबंध में आप कुछ कहना चाहेंगे ?**

निकट भविष्य तो अंधकारमय है. हां देश का दूरगामी भविष्य अवश्य उज्ज्वल है. इसलिए कि हिंदी प्रदेश की जनता जागेगी, यह हमारा विश्वास है. १८५७ में इस प्रदेश की जनता ने ही अंग्रेजी राज्य को हिला दिया था. आगे भी वह अपनी शक्ति को पहचानेगी और देश के साथ खिलवाड़ करने वालों को पाठ पढ़ायेगी.

- **हिंदी प्रदेश की जनता आखिर संगठित क्यों नहीं हो पा रही है ?**

हिंदी प्रदेश में व्याप्त भ्रष्टता, संप्रदायवाद और जातिवाद के कारण यहां जनता संगठित नहीं हो पा रही है. जैसे ही वह जागेगी इनकी फसल काटने वालों को ज़रूर सबक सिखायेगी. आज हमारे यहां स्थिति है - फूट डालो और राज करो. जिस नीति पर अंग्रेज चल रहे थे, उसी नीति पर हमारे छुटभैये नेता भी अपनी गद्दी बनाये रखने की कोशिश में लगे हुए हैं. इससे देश के

जनसाधारण का नुकसान हो रहा है. इस मामले में उसे भी जैसे कुछ लेना-देना नहीं.

● आखिर संप्रदायवाद के मूल में कौन सी ताकतें काम कर रही हैं ?

दूरगामी भविष्य की दृष्टि से जब मैं इस बिंदु पर सोचता हूं तब हमारा संप्रदायवाद अमेरिका समर्थित और पोषित दिखायी देता है. अफ़गानिस्तान में अमेरिका की भूमिका पर आप ग़ौर करें तो बात साफ़ हो जाती है. संप्रदायवाद का उभार क्रिश्चियन फंडामेंटलिज्म की सबसे बड़ी समर्थक रिपब्लिकन पार्टी है. गोरे इसाइयों के द्वारा काले इसाइयों के गिरिजाघर में न जाने देने का जो हंगामा हुआ था, उसे बी.बी.सी. ने अपने कार्यक्रम में दिखाया था. हिंदू-मुस्लिम संप्रदायवाद की जड़ें भी वहीं हैं. इससे पहले अंग्रेजों के स्वार्थ सधते थे. अब अमेरिका को फ़ायदा है. वहां प्रोटेस्टेंट कैथोलिकों ने रोमन कैथोलिकों के गिरिजा घर जलाये हैं. आजादी के बाद हमारे यहां सबसे बड़े पैमाने पर दंगे भड़के थे. यह इसलिए कि आजादी जिस तरह से समझौता करके प्राप्त की गयी थी, उसमें विभाजन का प्रस्ताव गांधीजी ने नहीं पेश किया था. इसे जवाहरलाल ने पेश किया था, १९४७ में. संपूर्ण गांधी वांगमय के ८३वें खंड में आप इसे देख सकते हैं. असल में नेहरू और पटेल सब ज़गह समझौता करते थे. आजादी प्राप्ति के समय भी यही लोग आगे थे. देशी रियासतों का विलयन ऊपर से बड़ा क्रांतिकारी लगता है, पर वास्तव में इसने सामंतवाद की ही रक्षा की. भारत के विभाजन का बीज १९३५ के कानून में ही मौजूद था, जब हिंदू मुसलमानों के लिए अलग-अलग मतदान संघों की बात रखी गयी थी.

● कहते हैं गांधी जी का व्यक्तित्व बहुत पेचीदा है. इस संबंध में आप क्या सोचते हैं ?

देखिए, साम्राज्यवाद की जितनी आलोचना गांधी जी कर सकते थे उतना दूसरा कोई नहीं कर सकता था. लेकिन उनका दूसरा पक्ष यह रहा है कि वह किसानों को ज़मींदारों से नहीं लड़ने की बात कहते थे. उनके विचार में मजदूरों को पूंजीपतियों से लड़ना नहीं चाहिए.

● गांधी जी के जीवन और कर्तत्व का आपकी दृष्टि में सबसे प्रभावी पक्ष कौन-सा है ?

असल में, गांधीजी का सबसे शानदार काम दक्षिण अफ्रीका में रहा. मजदूरों का जितना बड़ा आंदोलन उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में संगठित किया, अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ता. दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास साम्राज्यवाद के लिए खुली चुनौती था. यहां गांधी जी मानवता के मुख्य संगठनकर्ता के रूप में सामने आते हैं. इसी तरह पंजाब के उपद्रवों पर कांग्रेस की जो रिपोर्ट जलियांवाला के बाद १९२०-२१ में तैयार की गयी थी, उसके लिए भी गांव-गांव में जाकर लोगों से मिलकर एक यथार्थवादी रिपोर्ट सामने आयी थी. इसमें भी गांधी जी की भूमिका सराहनीय रही. पंजाब में अंग्रेजों ने हिंदू-सिख और मुसलमान तीनों को दबाया था.

● देश में सांप्रदायिकता के प्रसार के लिए क्या कांग्रेस की तुष्टीकरण की नीति जिम्मेदार नहीं रही है ?

कांग्रेस आज औद्योगिक पूंजीवाद का समर्थक हो गयी है. संप्रदायवाद के कई चेहरे हैं. हिंदू-ईसाई-संप्रदायवाद, हिंदू-मुस्लिम संप्रदायवाद. मराठा राष्ट्रवाद में भी हिंदू संप्रदायवाद मिला हुआ है. इधर बीजेपी का अपना कम्युनलिज्म है. कांग्रेस ने जब साम्राज्यवाद से समझौता किया तब संप्रदायवाद से उसे समझौता करना ही था, फिर कांग्रेस का समर्थन कम्युनिस्ट पार्टियां किस आधार पर करती हैं. असल में यह दुर्भाग्यपूर्ण है. वामपक्ष की आलोचना में हमने १९६७ में एक लेख लिखा था. 'आलोचना' में वह छपा था. उसमें मैने साफ़-साफ़ कहा था कि भारत में अगर कभी फासिज्म आता है तो उसके लिए जिम्मेदार वामपक्ष होगा. अंध कांग्रेस विरोध मार्क्सवादी नीति नहीं, लोहियावादी नीति है. पूंजीपति वर्ग जिस हद तक साम्राज्यवाद का विरोध करे उस हद तक तो साथ देना चाहिए, पर जहां वह घुटने टेके वहां उसका विरोध करना चाहिए. अगर वामपक्ष कांग्रेस द्वारा तैयार किये गये शून्य को भरता तो यह स्थिति पैदा नहीं होता.

● तो देश को मजबूत कैसे किया जा सकता है ?

देश को अगर मजबूत बनाना है और सही रास्ते पर चलाना है, तो हिंदी प्रदेश की एकता बहुत ज़रूरी है. हिंदी के सात प्रदेशों *(अब तो दस)* का एकताबद्ध होना प्रगति के लिए आवश्यक है. अंग्रेजी की ज़गह हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाना दूसरी बड़ी ज़रूरत है. बीजेपी छोटे राज्य बनाने का समर्थन करती है, पर हम तो पूरे प्रदेश को एक करना चाहते हैं. हिंदी प्रदेश एक हो, हिंदी राष्ट्रभाषा हो. विभिन्न प्रदेशों के बीच संपर्क का माध्यम अंग्रेजी नहीं हिंदी होना चाहिए. देश में जिस तरह से कथनी और करनी के बीच अंतर बढ़ता जा रहा है, निकट भविष्य अंधकारमय प्रतीत हो रहा है. जिस तरह के स्वार्थी और आत्मकेंद्रित लोग देश को चला रहे हैं, निकट भविष्य इन्हीं लोगों के हाथ में कैद है; फिर आप इनसे क्या आशा कर सकते हैं ? एकताबद्ध होने का मतलब है सच्चाई को पहचानना, न्याय के हक में खड़ा होना और बराबरी के रास्ते पर बढ़ना. हमारी सरकारों के पास जो पैसा है और जिस तरह से वह ख़र्च हो रहा है उससे विकास की संभावनाएं कहां बढ़ रही हैं. ज्यादातर पैसे ग़ैर ज़रूरी अनुत्पादक मदों में ख़र्च हो रहे हैं. पूरे हिंदी प्रदेश के आर्थिक विकास के लिए यहां आर्थिक संसाधनों का विकास किया जा सकता है, लेकिन वह नहीं हो पा रहा है. दूसरी बात यहां के जितने विश्वविद्यालय हैं सबके सहयोग और संपर्क के द्वारा सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है. ये तीनों चीज़ें ज़रूरी हैं - करों की बचत, आर्थिक विकास और सांस्कृतिक विकास. लोग इसका विरोध करते हैं. कहते हैं इतने बड़े प्रदेश का प्रशासन कैसे चलेगा ? सामान्य नीति निर्धारित करने के लिए समूचे हिंदी प्रदेश को आगे ले जाने के लिए शासन की बुनियादी इकाई जनपद को ही बनाना होगा. जितने भी बोली क्षेत्र हैं, अमल में लाने के लिए सबको स्वायत्तशासी

क्षेत्र बनाने होंगे. एक विधानसभा और जनपदों के आधार पर पंचायती राज विकास का यह सूत्र होना चाहिए. हां जब तक जाति बिरादरी रहेगी, पंचायतें भी ठीक ढंग से काम नहीं करेंगी. कश्मीर समस्या के समाधान के लिए भूमि सुधार लागू करना ज़रूरी है. हमारे यहां तो सामंतीय अवशेष हैं, उनके यहां साक्षात सामंतवाद है. इससे जब तक आप छुटकारा नहीं पाते तब तक न लोकतंत्र को मजबूत कर सकते हैं और न ही देश को इक्कीसवीं शताब्दी में ले जाने के लिए ज़रूरी साधनों से लैस हो सकते हैं.

● **भारत द्वारा किया गया परमाणु विस्फोट क्या देश के स्वाभिमान और मजबूती का सूचक नहीं है ?**

परमाणु विस्फोट को लेकर बहुत ज्यादा खुश होने की ज़रूरत नहीं है. उसमें जो लाखों रुपये का ख़र्च हुआ है उससे राजनीतिक लाभ तो लिया जा सकता है, पर उससे देश को कोई फ़ायदा होने वाला नहीं. कारगिल के सिपाहियों के पास एक तरफ़ पर्याप्त हथियार नहीं हैं और दूसरी ओर आप परमाणु विस्फोट कर रहे हैं. असल में ज़रूरत आर्मी को मॉडर्नाइज़ करने की है. ताकत एटमबम से नहीं, जनता की एकता से आती है. वियतनाम इसका उदाहरण है. यह क्यूबा की जनता की ही ताकत है कि अमेरिका जैसी शक्ति के नाक के नीचे वह छोटा सा देश इनकी छाती पर मूंग दल रहा है. कारगिल युद्ध के संदर्भ में जब मैंने भारत-पाकिस्तान के रिश्ते की बात छेड़ी तब उन्होंने कहा, असल में पाकिस्तान में उसके जन्म से ही भारत विरोध की ग्रंथि काम कर रही है. ऊपर से अमेरिकी मदद उन्हें कभी चैन से बैठने ही नहीं देती. वहां भाग्यविधाता आर्मी ही है. अमेरिकी सहायता उसे रह-रहकर उकसाती रहती है. तभी तो उन्हें उद्योग धंधों की उतनी चिंता नहीं है. कारगिल के बाद 'जी-सात' के प्रस्ताव पाकिस्तान को जितना लताड़ते हैं, उससे कम उसकी पीठ नहीं थपथपाते. इसे बारीकी से देखने की ज़रूरत है.

● **इधर बहुत दिनों से आलोचना पर आपकी कोई पुस्तक नहीं आयी. क्या बात है ?**

आलोचना करना एक तरह से बंद कर दिया है और अब केवल इतिहास की पुस्तकें तैयार कर रहा हूं. साहित्य की विशुद्ध आलोचना से ज्यादा ज़रूरी मुझे अपने युग की समस्याओं और उसके मुख्य चिंतनकर्ताओं को लेकर अपनी बात करना ज्यादा ज़रूरी लगता है. मेरे पास काम बहुत ज्यादा है, समय बहुत कम है. इसीलिए तो मोतियाबिंदु का ऑपरेशन भी टाल रहा हूं. पंद्रह दिनों का रेस्ट भी मेरे लिए बहुत समय बरबाद करने के बराबर है. जब तक शरीर स्वस्थ है तब तक जितना काम निपटाया जा सकता है निपटा लिया जाये.

● **जब हिंदी-शोध क्षेत्र में व्याप्त अराजकता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया तब उन्होंने बड़ी उदासी के साथ कहा,**

अराजकता कहां नहीं है ? आज समाज की जड़ों में अराजकता घुसी हुई है. अपने घर का कूड़ा-करकट दूसरे के घर के सामने डाल दें तो यह क्या है. जो यहां है, वही साहित्य में भी हो रहा है.

गीत

✍ रामानुज त्रिपाठी

बहुत दिनों के बाद गोद में सागर की
शायद कोई लहर सिमट कर सोयी है.

बहुत दिनों के बाद तीर पर
बैठ धूप ने किया आचमन,
और छांव सूरज के रथ पर
चढ़ कर चली गयी नंदन-वन,

सिर्फ़ बिछड़ कर एक टूटती खामोशी ने
असह वेदना की थाती संजोयी है.

बहुत दिनों के बाद पवन -
पुरवा ने चलते-चलते टोका,
किसी अपाहिज खुशबू को
कंधे पर लादे आया झोंका,

सांझ पकड़ कर चरण किसी सूनेपन का
सिसक-सिसक कर आज अनवरत रोयी है.

बहुत दिनों के बाद अभी भी
ज़िंदा हैं संजाये सपने,
आयेंगे आखिरी सांस तक
रचने नये घरौंदे अपने,

अभी बची है आहट कुछ आते कल की
शेष अभी दुधमुही कल्पना कोई है.

निवास/पोस्ट - गरयें,
सुलतानपुर (उ. प्र.) २२७ ३०४

● **काफी समय हो चुका था. इसलिए फिर मिलने की अनुमति लेकर अंतिम प्रश्न के रूप में अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की... उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में आपका अपना क्या दृष्टिकोण है ?**

मैंने इसके संबंध में कुछ नहीं पढ़ा है और न ही मेरे पास इस पर अध्ययन करने और सोचने के लिए समय है. रही बात इसके शोर-शराबे को लेकर तो कुछ दिनों में लोग खुद-ब-खुद समझ जायेंगे, यह क्या है ? और कैसा है ? साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रचारतंत्र का यह षड्यंत्र है अथवा इसके भीतर कुछ तत्व भी है. यदि होगा तो लोग उसे ग्रहण कर लेंगे अन्यथा ठुकरा देंगे.

डॉ. त्रिभुवन नाथ राय
२-सी/६ सेक्सरिया कंपाउन्ड,
सखाराम लांजेकर मार्ग, परेल, मुंबई ४०० ०१२

पुस्तक समीक्षा

बिराने देश में घर की तलाश

✍ डॉ. दामोदर खड़से

देस बिराना (उपन्यास) : **सूरज प्रकाश,**
प्रकाशक : ४७१५/२१ दयानंद मार्ग, दरियागंज,
नयी दिल्ली-११० ००२. **मू.** २५० रु.

समकालीन कथाकारों में सूरज प्रकाश एक चर्चित कथाकार के रूप में तेजी से उभरे हैं. शहरी जीवन में आ रहे तेज परिवर्तनों को सूरज प्रकाश बहुत सूक्ष्मता से अपनी कहानियों, उपन्यासों में शब्दबद्ध करते रहे हैं. उनके द्वारा उठाये गये विषय नये और सामयिक होते हैं. आज इंग्लैंड, अमेरिका आदि समृद्ध देशों में जाकर जीवन को "संपन्न" करने की चाह लगभग हर भारतीय में है. सुख-सुविधाओं को बटोरकर एक घर की ललक हर व्यक्ति में होती है. ऐसे ही चरित्रों को लेकर सूरज प्रकाश ने इंग्लैंड को केंद्र में रखकर पात्रों का जो ताना-बाना बुना वह "देस बिराना" नामक उपन्यास के रूप में हमारे सामने है. सूरज प्रकाश ने इस उपन्यास में समाज, परिवार, घर और व्यक्ति की भीतरी ऊहापोह को बहुत सूक्ष्मता से छुआ है. घर एक ऐसी ज़गह होती है जहां आदमी बाहर के संघर्षों, विरोधों, चुनौतियों और खूंखार लड़ाइयों से जूझकर राहत की सांस लेना चाहता है. घर, आदमी को केवल जैविक सुविधाएं नहीं देता, बल्कि भावनात्मक सुरक्षा भी देता है. वैसे यह कहना चाहिए कि सामान्यतः आदमी, घर से ऐसी अपेक्षाएं करता है, लेकिन जब घर ही व्यक्ति के प्रति उदासीन हो जाये, सुरक्षा देने वाला असम्मान का भाव रखे और परिवार कलह से घिर जाये, जब किशोर वय सुरक्षा देने वाले अपने पिता से प्रताड़ित हो, घर से बहिष्कृत हो तब दीपू अपने पिता दारजी के प्रति एक खिन्न भाव लेकर घर से निकलता है. मन में मां के प्रति अगाध प्रेम, बहन के प्रति स्नेह और अपने प्रति एक घोर अनिश्चितता लेकर वह अपने हेडमास्टर के घर पहुंचता है. क्योंकि दीपू ने इन्हीं की आंखों में अपने लिए सहानुभूति देखी.

सूरज प्रकाश ने पारिवारिक वातावरण को बहुत बारीकी से बयान किया है. किस प्रकार एक तानाशाह पिता बच्चों की मासूमियत की उपेक्षा करता है और अपने अहम-भाव से ग्रस्त, परिवार पर खीझता है. ऐसे में बच्चे द्वारा कोई तथाकथित सामाजिक उल्लंघन होता है, तब पिता अपना नियंत्रण खो बैठता है और आवेश में आकर दीपू को धक्के देकर घर से निकाल देता है. कारण था - सिर दर्द होने के कारण सरदार होते हुए दीपू का सिर मुंडवा लेना.

हेडमास्टर की अपनी सहानुभूति का कारण उनका भी मोना सरदार होना था. उन्होंने अपने ससुर के पास दीपू को भेज दिया, जो सरदार था और गुरुद्वारे का प्रमुख. दीपू ने अपनी हैसियत एक नौकर की तरह पायी, पढ़ाई से वंचित रहा. ऊपर से हेडमास्टर के ससुर के यौन-शोषण का शिकार हो गया. दीपू की स्थिति कुएं से निकल कर खाई में गिरने जैसी हो गयी. पर पढ़ाई का जुनून दीपू से संघर्ष करवाता रहा और दीपू एक दिन आईआईटी, कानुपर से न सिर्फ़ इंजीनियर बनकर बाहर आया, बल्कि इंजीनियरिंग में पीएच.डी. की सम्मानित डिग्री भी हासिल की. जब कुछ वह बन गया तब उसे घर की याद आयी. मां की ममता, बहन का प्यार उसे वापस घर आने पर विवश कर गया. दारजी का विचार आते ही मन कसैला हो जाता. फिर भी वह घर आया.

सूरज प्रकाश ने दीपू के इस विकास को बड़े संयम के साथ पूर्णता दी है. उपन्यासकार की सबसे बड़ी खूबी यह रही कि घटनाएं बहुत स्वाभाविक ढंग से घटते हुए उपन्यास के पात्रों का विकास करती हैं. रिश्ते में, परिवार के ठंडेपन को लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से छुआ है. पाठक इन रिश्तों से जीते हुए आगे बढ़ते हैं. कहानी कहने की यह कला सूरज प्रकाश में बखूबी है. ऐसा लगता है वे इन पात्रों की "रनिंग कमेंट्री" दे रहे हैं. एक-एक शब्द नाप-तौल कर आंखों के सामने से गुज़रता है.

कहानी मोड़ लेती है और दीपू का विवाह गौरी से होता है. इस रिश्ते में दीपू ने बचपन के अभाव, किशोरावस्था के अपमान और युवावस्था के दुःस्वप्नों को विसर्जित होने जैसा पाया. लंदन स्थित धनाढ्य हांडा परिवार की कन्या गौरी से दीपू का विवाह हुआ और तमाम उद्योग-घरानों से वह रातोरात जुड़ गया. आलिशान मकान, चमचमाती कारें, हवाई-यात्राएं महंगे होटल, खूबसूरत वादियां दीपू के हनीमून के साथ हो लिये. पर हनीमून का खुमार उतरते ही दीपू ने अनुभव किया कि वह हांडा बिजनेस टायकून के केवल और केवल एक मैनेजर से अधिक हैसियत नहीं रखता. अपने साढ़ू शिशिर से हांडा परिवार के ब्रारे में जानकारी पाकर न सिर्फ़ वह विस्मित हुआ, बल्कि उसका सारा सुख-वैभव "अन-डू" हो गया. वह खुद मेकैनिकल इंजीनियर है और इस क्षेत्र की पीएच.डी. से लैस युवा है. उसे लग रहा था कि इंग्लैंड जाकर वह अपना मन लायक काम ढूंढ़ कर जीवन की शुरुआत करेगा और अपनी कमाई से, गौरी के लिए एक घर बनायेगा. लेकिन, वह तो एक धनी ससुर का मैनेजर-कम-दामाद बन गया. शिशिर से जाना कि इंग्लैंड की अधिकांश लड़कियां किशोरावस्था तक पहुंचते-पहुंचते ही अपना कौमार्य खो चुकी होती हैं, बहुत-सी लड़कियां कई बार एबॉर्शन करा चुकी होती हैं. ऐसी लड़कियों में भारतीय लड़कियां भी अपवाद नहीं होतीं. यह सुनकर तो उसकी आंखें फटी की फटी रह गयीं कि गौरी भी अछूती नहीं है और उन सामान्य लड़कियों से अपवाद भी नहीं है...

दीपू यह अनुभव करने लगा कि ग़लत घर में रहने से बेघर रहना अच्छा. लेकिन अब वह जाये कहां ? गौरी की ओर से उसका मन न सिर्फ़ उजड़ चुका था, बल्कि आक्रोश से भर गया था. वह पर कटे परिंदे-सा फड़फड़ाने लगा और सही समय की तलाश में अपने को टालता रहा. इस खींचतान में वह अपना मानसिक संतुलन खो बैठ और बड़े ही विचित्र मोड़ पर मालविका से उसकी मुलाकात हुई.

सूरज प्रकाश के पात्रों के अपने-अपने चक्रव्यूह हैं. वे उसमें उतरते हैं या उतार दिये जाते हैं. पर हर पात्र भीतर से अनुभव करता है - "सबको कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं जीवन के इस महाभारत में अपने हिस्से की लड़ाई लड़नी होती है. यह महाभारत बहुत ही अजीब होता है. इस महाभारत में हर योद्धा को अपनी लड़ाई खुद ही तय करनी और लड़नी पड़ती है. यहां न तो कोई कृष्ण होता है न अर्जुन. हमें अपने हथियार भी खुद चुनने पड़ते हैं और अपनी रणनीति भी खुद ही तय करनी पड़ती है. कई बार हार-जीत भी कोई मायने नहीं रखती क्योंकि यह तो अंतहीन लड़ाई है जो हमें हर रोज़ सुबह उठते ही लड़नी होती है. कभी खुद से कभी सामने वाले से तो कभी अपनों से तो कभी परायों से. लेकिन अगर एक बार आप अपने भीतर के दुश्मन से जीत गये तो आगे की सारी लड़ाइयां आसान हो जाती हैं."

सूरज प्रकाश ने उपन्यास के पात्रों को इस प्रकार विकसित किया है कि सारे पात्र एक-दूसरे से जुड़े होने के बावजूद अपना अलग अस्तित्व और केंद्र रखते हैं. अब जैसे मालविका की कहानी यहीं से शुरू होती है और दीपू के सामने एक ऐसी स्थिति का उद्घाटन होता है, जिसे देखकर वह भौंचक्का रह जाता है. मालविका बेहद सुंदर, सुगठित, संतुलित, संयमित और सुसंस्कृत युवती है. उसके पिता नहीं रहे, मां ने बलविंदर से उसकी शादी तय की, जिसने यह बताया था कि इंग्लैंड में उसका बड़ा कारोबार है. बड़े नाटकीय ढंग से उसने दहेज में कुछ न लेने की उदारता दिखाते हुए पांच लाख रुपए का ड्राफ्ट ऐंठ लिया. मालविका के साथ सैर सपाटे और मजे लूटने के बाद वह इंग्लैंड चला जाता है और इधर मालविका - नयी नवेली पत्नी बेसब्री से बलविंदर की चिट्ठियों का इंतज़ार करती रहती है. बहुत दिनों बाद जब उसकी चिट्ठी आती है तो उसमें नयी-नयी कठिनाइयों का पुलिंदा होता है. मालविका पढ़ी-लिखी है, बहादुर है, समझदार है और अपने पति के बारे में उसके मन में गुमान है. उसे पाने वह अपने मुहंबोले भाई की मदद से लंदन पहुंचती है. वहां उस पर आश्चर्य का पहाड़ टूट पड़ता है कि बलविंदर लंदन में कोई कारोबार नहीं करता, बेरोज़गार है और आवारा लड़कों के साथ उल्टे-सीधे काम करता है. लोग उसे बिल्लू के रूप में जानते हैं, फिर भी उसके भीतर की भारतीय नारी और समर्पित पत्नी उसे अपनाना चाहती है, संकट से उबारना चाहती है, लेकिन बिल्लू पूरी तरह आपराधिक मनोवृत्ति का है और वह मालविका की सुंदरता को बेचने का सौदा करता है. मालविका आत्मसम्मानी है. यह सब जानकर उसकी भीतरी शक्ति ने उसका भूतकाल झटक दिया और रात-दिन की मेहनत ने उसे लंदन की सर्वश्रेष्ठ योगा शिक्षिका बना दिया. संयोगवश हांडा परिवार के वह करीब आयी और दीपू से उसकी मुलाकात हुई.

दीपू और मालविका अपने-अपने रिश्तों के छले हुए हैं. पारदर्शी व्यक्तित्व हैं. हालांकि मालविका योगा शिक्षिका और मनोचिकित्सक है, लेकिन दीपू की कहानी सुनते-सुनते उसके भीतर की अपनी कहानी भी दीपू के साथ कहीं छू गयी और वे दोनों एकाकर हो गये. मालविका का मांसल आकर्षण दीपू को सातवें आसमान पर चढ़ा गया, लेकिन दीपू अब इन सब आकर्षणों से ऊपर उठ चुका था. कोई आकर्षण नहीं रोक सकता. गौरी को छोड़ना उसका संकल्प है और तयशुदा समय पर वह इंग्लैंड छोड़ देता है. भारत की देखी-भाली भूमि की अनजान यात्रा पर वह निकल पड़ता है.

सूरज प्रकाश ने इस उपन्यास के माध्यम से यह बताने की सफल कोशिश की है कि इंग्लैंड, अमेरिका जैसे देशों में जाकर रोज़गार, व्यवसाय हासिल कर अपने जीवन को स्वप्निल बनाने की चाह आम तौर पर अधिकांश भारतीयों में होती है, लेकिन वहां जाकर जो दृश्य दिखाई देते हैं, वे इतने साफ़-सुथरे नहीं होते कि उनके साथ पूरी तरह जुड़ा जा सके. इस उपन्यास के माध्यम से इंग्लैंड में बसे भारतीयों की संपत्ति बटोरने की चाह के ऐवज में उन्हें जो खोना पड़ता है और जिन विसंगत स्थितियों से वे समझौता कर ऊपर से रंगीन दिखने वाली जीवन-शैली की बात सोचते हैं, उनका भीतरी सच सूरज प्रकाश की नज़रों से नहीं बच सका. सूरज प्रकाश कई बार इंग्लैंड जा चुके हैं, वहां बसे भारतीयों की जीवन-शैली को करीब से देखा है और उन्हीं विसंगतियों में से उनके चिंतन ने "देस बिराना" साकार किया है.

सूरज प्रकाश ने यह पूरी सावधानी बरती है कि इंग्लैंड में बसे भारतीयों की अंदरूनी कहानी कहते हुए उपन्यास को रिपोर्ताज होने से बचाया जा सका. किसी भी पात्र को उपन्यास पर थोपा नहीं गया है. सारे पात्र उपन्यास की मूल पृष्ठभूमि से उगे हैं. उनका स्वाभाविक विकास हुआ है और घटनाओं को देखते समय अपने निर्णय स्वयं लेते रहे हैं. सूरज प्रकाश की जीवन दृष्टि, उनकी रचनाधर्मिता इस उपन्यास में बहुत ही स्पष्टता से उभर कर सामने आयी है. मालविका और दीपू के नितांत आंतरित क्षणों को चित्रित करते हुए लेखक ने स्थिति को बयान करने के लिए जिस शैली का उपयोग किया है उसे बड़ी सावधानी से उत्तेजनापूर्ण नहीं होने दिया. साथ ही, शब्दों के प्रदर्शन जाल में न फंसते हुए बहुत कलात्मक ढंग से उन दोनों के निजी पलों को पाठकों के सामने रखा है. यह निहायत चुनौती भरा काम था.

"देस बिराना" अत्यंत गतिशील उपन्यास है. लेकिन पात्रों के साथ न्याय करते हुए सूरज प्रकाश बड़े संयमित लगते हैं.

बहुत रोचकता के साथ सुंदर भाषा-शैली में सारी कहानी आंखों के सामने साकार होती है. पात्रों का स्वभाव, उनका व्यक्तित्व, उनकी भीतरी-बाहरी संवेदनाएं बड़ी आसानी से पाठकों तक पहुंचती हैं.

सूरज प्रकाश इस उपन्यास में देहरादून से लंदन - "लॉन्ग ड्राइव" करते हुए दिखाई देते हैं. उनका उपन्यासकार इस ड्राइव को देश और समाज के तमाम आर्थिक, पारिवारिक पेचीदगियों को पार करते हुए आगे बढ़ता है. भारत और इंग्लैंड के प्रवासी, विस्थापित रीति-रिवाज़ संकर-संस्कार, भौतिक सुविधाओं के आकर्षण और कम समय में सब कुछ पा लेने की चाह से ग्रस्त आदमी को बहुत करीब से सूरज प्रकाश ने इस उपन्यास में चित्रित किया है. आजकल डायसपोरा साहित्य चर्चित विषय है, जिसमें विदेशों में बसे भारतीयों के मानसिक द्वंद को आमतौर पर चित्रित किया जाता है. सूरज प्रकाश ने अपने इस उपन्यास में बाह्य कारकों को चित्रित करने की बजाय भीतरी विसंगतियों को परत-दर-परत उकेरा है.

सूरज प्रकाश अत्यंत सक्रिय लेखक के रूप में आज चर्चित हैं. इनका "हादसों के बीच" उपन्यास भी चर्चित रहा है. ढेर सारी अंग्रेजी, गुजराती, मराठी की कृतियों का अनुवाद भी किया है और कई कहानी संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं. इनकी सारी कथा-यात्रा में "देस बिराना" विषय की नवीनता और बयान की रोचकता के लिए जाना जाता रहेगा.

डी/डी-८, वृंदावन कॉम्प्लेक्स, शांतिवन के पास, कोथरूड, पुणे - ४११ ०२९.

हाशिये पर पड़े लोगों की कहानियां

डॉ. रूपसिंह चंदेल

लखमी के संग सत्रह घंटे (कहानी संग्रह) : **डॉ. सतीश दुबे**
प्रकाशक : दिशा प्रकाशन, १३८/१६, त्रिनगर, दिल्ली - ११० ०३५, **मू.** १५० रु.

हिंदी लघुकथा के क्षेत्र में जिन रचनाकारों के नाम के बिना लघुकथा-चर्चा अधूरी कही जायेगी, डॉ. सतीश दुबे उनमें से एक प्रमुख नाम है. लघुकथा के उत्कर्षकाल में डॉ. दुबे ने निरंतर लेखन कर इस विधा को सुस्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया, लेकिन जैसा कई लघुकथाकारों के साथ देखा गया... कालांतर में वे लघुकथा के साथ कहानी-उपन्यास की ओर उन्मुख दिखाई देते हैं. कुछ तो पहले से ही इन विधाओं में सक्रिय थे – बल्कि यह कहना उचित होगा कि वे कहानीकार पहले और लघुकथाकार बाद में थे. असगर वज़ाहत, बलराम, सुभाष नीरव, ज्ञानप्रकाश विवेक आदि ऐसे ही रचनाकार हैं. लेकिन डॉ. सतीश दुबे, कमल चोपड़ा, बलराम अग्रवाल आदि अनेक रचनाकार लघुकथा की सीमाओं को पहचानकर बाद में कहानी विधा की ओर उन्मुख हुए.

डॉ. सतीश दुबे के अब तक चार कहानी संग्रहों का प्रकाशन इस बात का प्रमाण है कि वे लघुकथा की भांति कहानियों के प्रति भी पर्याप्त गंभीर हैं. हाल ही में प्रकाशित उनके कहानी संग्रह 'लखमी संग सत्रह घंटे' में पंद्रह कहानियां संग्रहीत हैं, जिनके विषय में प्रभु जोशी का कथन है - "उनकी प्रस्तुत कहानियां इस बात या सच्चाई की तस्दीक करती हैं कि वे वैयक्तिकता की 'भीतर' के संसार में चहलकदमी करते हुए मध्यवर्गीय सीमांतों पर रुके रह जाने के बजाय उस 'बाहर' के 'व्याप्त' को साहित्यिकृत करती हैं, जो किसी भी वृहत सामाजिक चेतना से संपन्न लेखक के 'रचे हुए' में बरामद किया जा सकता है."

सामान्य और सहज लगने वाली डॉ. दुबे की कहानियों की विशेषता उनका मानवीय पक्ष है. यही नहीं वे जीवन को जिस अंतरंगता से प्रस्तुत करते हैं और लोक जीवन को जिस गहनता से चित्रित करते हैं वह स्पृहणीय है. 'लखमी संग सत्रह घंटे' में लखमी के चरित्र की निश्छलता, मानवीयता, निस्पृहता और जीवंतता हमें रांगेय राघव की 'गदल' की याद दिलाते हैं. कथा-परिवेश और स्थितियां भिन्न हैं, लेकिन लखमी का नितिन के प्रति निर्छद्मभाव उसे बहुत उच्चता प्रदान करता है. वह एक अपढ़ और थुर ग्रामीण महिला है, जिसमें नगरीय जीवन की नारी से भिन्न भारतीय नारी की अविकृत छवि दिखाई देती है. नितिन से उसका कथन, "तेने भी बता दी ना आदमी की जात. केसू का बाबा सही ही केता था - जहां लोग फिरने जात हैं वहां पीपल, खेत की मेड़ पर महुआ, कपास के साथ तिल्ली और बेवा के घर में आदमी का होना खराब होता है. पर तू मेरे को भला लगा, इसलिए ले आयी. अब चुपचाप सो जा और सुन, रात में कोई बात हो तो मेरे को लखमी करके बुला लेना..."

'नंदी जी' अंधास्था, धर्मांधता पर तीखा व्यंग करती है. सांड को मरा समझ (जिसे बस्ती के लोग शिव वाहन नंदी जी के रूप में मानते-पूजते थे) उसकी शव यात्रा की तैयारी का जीवंत दृश्य लेखक ने प्रस्तुत किया है. लेकिन यात्रा निकलने से पूर्व ही नंदी जी गहन निद्रा से जाग जाते हैं. 'उनको जीवित होता देख श्रद्धालुओं का हर्षातिरेक बादलों-सी गर्जना करने लगा तथा माइक की चीख अधिकतम वॉल्यूम पर हो गयी.' और इस सबका दुष्परिणाम यह हुआ कि भ्रमित नंदी जी ने भागते हुए चार लोगों को कुचला...और दो मारे गये. इसे यदि एक अच्छी व्यंग्य कहानी कहा जाये तो अनुचित न होगा. 'गुत्थियां' तृषा और तुषार की कहानी है. तुषार तृषा के सौंदर्य को घर की दीवारों में कैद रखने के बजाय बाहर निकालना चाहता है. इसमें उसका निहित स्वार्थ स्पष्ट है. वह पत्नी को पूंजीवादी उस व्यवस्था में ढाल देना चाहता है, जिसका सूत्र पश्चिम है. पाश्चात्य चकाचौंध और तीव्र उन्नति की महत्वाकांक्षा की पूर्ति वह पत्नी के माध्यम

से करना चाहता है. तृषा सब समझती है और समझाती है - 'ये पार्टियां, नित नये ग्रुप से मिलना और वह सब-कुछ जो तुम जानते हो, हमारे संस्कारों की दुनिया नहीं है. मैं नहीं सोचती, इस माध्यम से हम वह दुनिया बसा पायेंगे जो केवल तुषार और तृषा की होगी. सही बात तो यह है कि मैं अपने को बांटना नहीं चाहती.' सतीश दुबे महानगरीय जीवन में पनपती उस नवअपसंस्कृति पर विचार करते हैं जहां युवावर्ग तेजी से उच्चपद और प्रतिष्ठ पाने के लिए पत्नी की अस्मिता को दांव पर लगाने से कतई परहेज़ नहीं करता. इस सामाजिक विकृति पर गहन टिप्पणी है यह कहानी. 'धर्मसंकट' एक निश्छल अध्यापक की कहानी है.

'बूढ़ा रो रहा था' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है. समाज से उपेक्षित, परिवार से वंचित और प्यार की अपेक्षा रखने वाले व्यक्ति का लेखक ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है. बूढ़े का रोना लोगों को परेशान-हैरान करता है, लेकिन वह क्यों रो रहा है, जानने का समय किसी को नहीं है. लेकिन पड़ोस की देवयानी यानी मिसेज शुक्ला को है. वे उसकी पीड़ा को बांटने में सफल होती हैं. वास्तव में सतीश दुबे के अधिकांश पात्र समाज के उस हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं जो हाशिये पर पड़ा हुआ है. उनका शिल्प आकर्षक है और भाषा सहज. अपनी सहजता में उनकी कहानियां विशिष्ट हो उठी हैं. 'समर्पण', 'कुतुबनुमा की सुई', 'बिंदास', 'जाल की मछली', 'नक्सलाइट' आदि कहानियां यह सिद्ध करती हैं कि सतीश दुबे जितने अच्छे लघुकथाकार हैं उतने ही अच्छे कहानीकार भी हैं. कथात्मकता और प्रवहमयता उनकी कहानियों की विशेषता है. वे पाठक को बांधे रखते हैं. यह दुर्लभ हो रही विशेषता ही डॉ. दुबे को एक अच्छा कथाकार सिद्ध करती है.

बी-३/२३०, सादतपुर विस्तार,
दिल्ली - ११० ०९४

दलित जीवन का यथार्थपरक चित्रण

राजेंद्र सिंह गहलौत

मरी खाल-आखरी ताल (कहानी संग्रह) : **देवेंद्र कुमार पाठक**
प्रकाशक : प्रज्ञा प्रकाशन, कटनी (म. प्र.). **मूल्य** : ५०/-

साहित्य जगत में इन दिनों दलित, दलित-लेखन, एवं दलित रचनाकार पर चर्चा गरम है. लगभग हर प्रतिष्ठित-साहित्यिक पत्रिका के दलितों पर केंद्रित विशेषांक लगातार प्रकाशित हो रहे हैं, जबकि दलित रचनाकार दलित लेखन के रूप में सिर्फ़ उसे ही स्वीकार रहे हैं जो 'दलितों (दलित रचनाकारों) द्वारा दलितों के लिए लिखा गया हो.' स्वाभाविक है कि ऐसी रचनाओं में स्वानुभूति की वज़ह से दलितों के जीवन के सजीव एवं यथार्थपरक चित्र चित्रित होंगे. लेकिन ऐसी अधिकांश रचनाएं आत्मकथात्मक रचनाओं की श्रेणी में आ जाती हैं जिनमें से कि शरण कुमार लिंबाले की "अक्कारमाशी", ओमप्रकाश बाल्मीक की "जूठन", मोहन दास नैमीशराय की "अपने अपने पिंजरे" आदि का नाम लिया जा सकता है. जबकि इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि दलितों की व्यथा से व्यथित होकर एवं दलितों के जीवन के यथार्थ को यथावत् चित्रण करने के उद्देश्य से सवर्ण रचनाकारों द्वारा लिखी गयी रचनाओं में भी दलितों के जीवन के चित्र अत्यंत संवेदनशील ढंग से चित्रित हैं. इस तथ्य के प्रमाणीकरण हेतु जहां प्रेमचंद की "ठाकुर का कुंआ" एवं "कफ़न" जैसी कहानियों को प्रस्तुत किया जा सकता है वहीं राहुल सांस्कृत्यायन निराला, फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन जैसे कई प्रतिष्ठित साहित्यकारों की रचनाओं का भी उदाहरण दिया जा सकता है. लेकिन बदलते समय के साथ सामाजिक स्थितियां भी बदलीं तथा दलितों की स्थितियों में भी बदलाव आया. अब जहां सामाजिक-विभेद, शारीरिक-शोषण की अपेक्षा मानसिक रूप से अधिक उन्हें पीड़ित कर रहा है, वहीं दलित-राजनीति, दलित-चेतना के साथ ही दलित द्वारा सवर्ण के उत्पीड़न, उपेक्षा एवं अपमान की भी घटनाएं दिखलाई पड़ रही हैं, अतः दलित रचनाओं में इनका समावेश करना भी यथार्थता हेतु ज़रूरी हो गया है. इस संदर्भ में प्रतिष्ठित कथाकार हृदयेश की कहानी "मनु" का उल्लेख किया जा सकता है.

आलोच्य कहानी संग्रह "मरीखाल : आखरी ताल" में संग्रहित कहानियों में भी कुछ ऐसे ही तेवर दिखलाई पड़ते हैं जो कि दलितों के जीवन के सिर्फ़ शोषण, उत्पीड़न की ही कहानियां नहीं कहते बल्कि वक़्त के साथ बदलती उनकी सामाजिक-स्थिति, दलित-चेतना, दलित-राजनीति, दलित-स्वाभिमान, दलित वर्ग में परस्पर-अस्पृश्यता सवर्ण एवं दलितों के मध्य बदलते संबंध, दलित एवं सवर्ण के मध्य संपन्न विवाह के बाद उत्पन्न सामाजिक विषमताएं आदि को भी यथार्थपरक ढंग से विश्लेषित करते हैं. प्रस्तुत कहानी संग्रह का यह तेवर वर्तमान में लिखी जा रही "दलित कहानियों" से अलग हटकर एक नये ही दृष्टिकोण से दलितों के जीवन के यथार्थ को कहानियों में चित्रित करता है.

संग्रह में संग्रहित १० कहानियों को यदि उनकी विषयवस्तु के हिसाब के विश्लेषित किया जाये तो दलित महिला के यौन शोषण के चित्र जहां "कांछ" कहानी में यथार्थपरक ढंग से चित्रित हैं वहीं "मर्दानगी" कहानी में दलित-शोषण एवं दलित महिला के स्वाभिमान एवं अदम्य साहस के चित्र अंकित हैं. "कांछ" में दलित महिला के यौन शोषण के चित्रण में दलित महिला के विषाद, ग्लानि आदि को चित्रित न कर विवशता से समर्पण एवं सहजता से उसे स्वीकारने के बाद भले ही पढ़ने में अस्वाभाविक लगे पर निर्धन दलित महिला के जीवन का शायद यही कड़वा सच है. जबकि "मर्दानगी" में दलित महिला के साहस के लिए "मर्दानगी"

शब्द सामान्यतः तो अटपटा लगता है पर दलित-महिला के पति की कायरता-विवशता तथा ठाकुर निहाल सिंह एवं लालसिंह के शोषण के खिलाफ़ उसका आक्रोश, जिसका सामना करने का साहस ठकुर पिता पुत्र नहीं जुटा पाते हैं, को "मर्दानगी" शब्द से संबोधित करना एक ओर मर्दों की मर्दानगी को चुनौती देता है, तो दूसरी ओर दलित-महिला के जीवट को मर्दों की मर्दानगी से बढ़कर निरूपित करता है. कहानीकार ने अपनी इस कहानी में एक नया ही मुहावरा गढ़ा है "कांछ की पक्की" जो कि मर्दों के चरित्रवान होने के लिए प्रयुक्त मुहावरे "लंगोट का पक्का" के टक्कर का है. वैसे अब लंगोट पहनने वाले मर्द और कांछ मारकर धोती पहनने वाली औरतों की संख्या दिन प्रतिदिन घटती जा रही है, ऐसी स्थिति में ये मुहावरे भी अपना अस्तित्व खो रहे हैं फिर भी "कांछ की पक्की" में एक नयापन है.

वर्तमान में सामाजिक विषमताएं दलितों को मानसिक रूप से अधिक पीड़ित कर रही हैं, इसके सशक्त चित्र "मरी खाल : आखरी ताल", "ऋणमुक्ति" एवं "ब्राह्मणवाद" कहानियों में दिखलाई पड़ते हैं जबकि दलित एवं सवर्ण के विवाह संबंध के बाद सामाजिक स्थिति एवं दलित सवर्ण की संतान के विवाह की समस्या, दलितों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के साथ जाति परिवर्तित कर स्वयं को ब्राह्मण, ठाकुर जैसी ऊंची जाति के रूप में प्रस्तुत करने की दलितों की मानसिकता आदि के चित्र कहानी "पुनर्मूषको भव" एवं "ज़मीन की जात" में चित्रित हैं. "पुनर्मूषको भव" कहानी में एक विचित्र तथ्य उभर कर सामने आता है कि दलित, ब्राह्मणों का छुआ पानी नहीं पीते ! दृष्टव्य है पृष्ठ ६३ का यह अंश -"...तुम मरद हो. भले ही ऊंची जाति वालों के कच्चो पक्का खा पी सकते हो पर हम औरतें तो ब्राह्मणों का छुआ पानी भी नहीं पी सकतीं." फुल्लो दाई ने तमक कर कहा.

"तिजिया काकी ने कहा था -" अब भी उतर जाओ ब्राह्मन देवता नहीं, तो हम भी अपनी गगरी खींच कर तुम्हारे मूड़ पर फोड़ देंगे."

...यह दृश्य कितना यथार्थपरक है, यह कहानीकार द्वारा वर्णित कथा-घटना-क्षेत्र (छोटी कहानदी का तटवर्ती क्षेत्र) में ब्राह्मण एवं दलितों की स्थिति पर निर्भर करता है या घटना विशेष में मान्य हो सकता है, समग्र रूप से स्वीकारा नहीं जा सकता. जबकि सवर्ण एवं दलित राजनीति, दलितों में छुआछूत आदि के चित्र "ब्राह्मणवाद" कहानी में दिखलाई पड़ते हैं. "ब्राह्मणवाद" की मनःप्रवृत्ति सवर्ण, दलित सभी में उभरती है. यह इस कहानी का मूल विजन है.

"कोल्हू कथा" एक ओर जहां मशीनीकरण के फलस्वरूप ग्रामीण जीवन में दलितों के पारंपरिक जातिगत व्यवसाय की दयनीय दशा एवं पशु उत्पीड़न का दृश्य चित्रित करती है वहीं दूसरी ओर यह कहानी फंतासी में बूढ़े बैल कजरिया को दलितों की पुरानी पीढ़ी तथा जवान बैल नाटा को दलितों की नयी पीढ़ी के प्रतीक के रूप में चित्रित कर यह बतलाने का प्रयास करती है कि दलितों की पुरानी पीढ़ी अत्याचार, शोषण बर्दाश्त करती हुई मौत का दामन थाम लेती थी लेकिन दलितों की नयी पीढ़ी अत्याचार-शोषण के खिलाफ़ संघर्ष करती हुई तथा शोषण करने वालों को अपनी जान की परवाह न करते हुए सबक सिखाने पर आमादा नज़र आती है. "कथा नहीं" एवं "और उसका मज़हब" अन्य कहानियों की अपेक्षा अलग हटकर हैं जो कि पाठकों की एकरसता को परिवर्तित करती हैं. "कथा नहीं" कथा शिल्प की फंतासी में दलित वर्ग के प्रतिनिधि कथानायक सूरदास व उसकी झोपड़ी के माध्यम से एक ही वर्ग के भीतर उपजी विसंगतियों को दिखाती है, तो "और उसका मज़हब" पशु संवेदना के जरिए मानवीय समाज के धर्मों की निस्सारता बताती है.

संग्रह की लगभग सभी कहानियों की भाषा सरल, सहज एवं आंचलिक बोली के शब्दों को अपने अंतर में व्यापकता से समाहित के किये हुए है. लगभग सभी कहानियां दृश्य चित्रण पर आधारित हैं तथा कहानीकार के निवास क्षेत्र कटनी के आसपास के ग्रामीण क्षेत्र के लोक जीवन के यथार्थपरक चित्रों की झलक कहानियों में दिखलाई पड़ती है. कई कहानियों में सपाटबयानी एवं किस्सागोईपन का अभाव कहानियों को प्रभावित करता तो है, पर कहानियों की पठनीयता एवं कथानक की रोचकता पाठकों को कहानियां पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती है.

देवेंद्र कुमार पाठक के इस कहानी संग्रह की कहानियां ग्रामीण जीवन में सामाजिक विषमताओं, जाति पांत, छुआछूत, ऊंच-नीच, गरीबी, संघर्ष, समझौता, दलित एवं दलित महिलाओं की स्थिति आदि को यथार्थपरक ढंग से विश्लेषित करती हैं. आशा है कि सभी वर्गों के पाठकों को प्रस्तुत कहानी-संग्रह की कहानियां प्रभावित करेंगी.

द्वारा सिंह प्रिंटिंग प्रेस,
पोस्ट-बुढ़ार, जिला-शहडोल (म. प्र.) ४८४११०

कुछ और तरह की ग़ज़लें

शैलजा नरहरि

कुछ और तरह से भी (ग़ज़ल-संग्रह) : **हस्तीमल 'हस्ती'**
प्रकाशक : काव्या प्रकाशन, २८, कालिका निवास, नेहरू रोड, सांताक्रुज़ (पूर्व), मुंबई - ४०० ०५५. **मू.** ७० रु.

घनी आबादी से दूर जंगलों में, जहां रास्तों को भी भटकना पड़ता है, कभी-कभी जलती लकड़ियां, उठता धुआं दिखाई दे जाता है. यह वह आग है, जिसे बन्जारे जलता हुआ छोड़ गये हैं. ऐसी आग जंगल में ही नहीं आदमी के मन में भी जलती रहती है. हस्ती जी के मन में भी ऐसी ही आग जल रही

है. वही ग़ज़ल के कपड़े पहनकर उनके नये ग़ज़ल संग्रह "कुछ और तरह से भी" में पढ़ने वालों के लिए एक तोहफ़े की तरह आयी है. आजकल तो लोग ग़ज़ल को ओढ़ रहे हैं, बिछा रहे हैं, इस्तेमाल कर रहे हैं, बेच रहे हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं जो माथे की लकीरों में ग़ज़ल को लिखाकर लाये हैं. हस्ती जी के माथे की लकीरों में ग़ज़ल लिखी है. यह आदमी जिसका नाम हस्ती है बहुत कम और संतुलित बोलता है. बोलती है इसकी ग़ज़ल.

पहले ग़ज़ल मज़बूर थी. वह माशूक और आशिक के बीच का संवाद भर थी. ज़माने से ज़रा कम लेना देना था. आज की माशूका को फ़ुरसत भी कहां है ! वह पहली लोकल से जॉब के लिए निकल जाती है, अतः लिखनेवाले के सामने "और भी ग़म हैं ज़माने के सिवा", इसी कारण से ग़ज़ल का दायरा बढ़ा है. अब दुनिया का कोई भी विषय जो भावुक दिलों में धड़कता है, ग़ज़ल में कहा जा सकता है. हस्ती जी मुंबई के शायर हैं. रहते अपने ही भीतर हैं, लेकिन सुनते सबकी हैं. उनके शेर परत-दर-परत खुलते हैं. बहुत कुछ साफ़ कहते हैं. कभी-कभी सरग़ोशी भी करते हैं. असल में तो शायरी पढ़ना, लिखने जैसा ही है, अगर पूरी तरह समझा जाये. क्योंकि, उसे भी तो समझना होता है जिसे शायर ने लिखा ही नहीं है और जो पढ़ने वाले के मन में है.

अपने बारे में कुछ कहते हुए "सृजन और मैं" में हस्ती जी ने कहा है- "ग़ज़ल की रहा पकड़ना आसान है, चलना बहुत मुश्किल."

हस्ती जी कहते हैं -

नहीं लगने दी मैंने अपनी कीमत कौन मानेगा,
भले जाती रही हाथों से जन्नत कौन मानेगा ।

अपनी कीमत को पहचानने पर, अपने दायरों में अपने को सीमित रखने का फ़न हर व्यक्ति को नहीं आता -

दोस्ती, चाहत, वफ़ा इक हद तलक़,
ये अदाकारी निभा इक हद तलक़ ।

इस शहर में जहां दुनियादारी मासूम नहीं एक सख़्त चेहरा लिए घूमती है अपने रास्तों को खोजना, पहचानना किसी 'कोलंबस' से कम कठिन नहीं होता -

रास्ता किस ज़गह नहीं होता,
सिर्फ़ हमको पता नहीं होता ।

रास्ते खोज भी लो तो यहां टिक पाना और अपनी चमक को बरकरार रखना हर एक को नहीं आता -

अनगिन बूंदों में कुछ को ही,
आता है फूलों पर ठहरना ।

कुछ देर फूलों पे ठहरने को मिले या न मिले, सब कुछ छोड़ कर आगे बढ़ते जाने का भी तो सुख होता है -

क़िस्मत वालों को मिलते हैं,
इश्क, फ़क़ीरी, फ़न, याचना ।

ऐसे क़िस्मत वाले जब अपना आकलन करते हैं, बहुत कुछ छोड़ना भी चाहते हैं कि ज़ख़्म भर सकें. लेकिन मन चाहा होता कहां है -

तस्वीर एक रोज़ वो मैंने हटा तो ली,
घर सा रहा न घर तो मुझे सोचना पड़ा ।

हस्ती जी के ख़्याल में ग़म की दवा ग़मज़दा रहना ही है-

देखना चाहता हूं दम अपना,
ग़म मेरे आस पास रहने दो ।

एक और खूबसूरत मशवरा -

आप ही अपने काम आयेंगे,
सीखिए खुद से मशवरा करना ।

हस्ती की ग़ज़लों में कहीं-कहीं मुहावरों की भी भाषा है -

ये कब दस्तक देते हैं,
गाहक, मौत, मुसीबत, दाग़ ।

x x x

एक सूरज बहुत ज़रूरी है,
चांद तारे सहर नहीं करते ।

x x x

वक़्त दस्तक नहीं दिया करता,
अपना दरवाज़ा तुम खुला रखना ।

अपने साथ-साथ, आस पास के बिगड़े वातावरण का दर्द भी हस्ती जी साथ लेकर चलते हैं और उसका दोष वह किसी एक को नहीं देना चाहते -

इल्ज़ाम दीजिए न किसी एक शख़्स को,
मुजरिम सभी हैं आज के हालात के लिए ।

x x x

मुझ में पा लेने को जज़्बा है अगर,
क्यों ये सोचू कोई क्या देता है ।

दुनिया की बेरुख़ी और अपने भीतर का ग़म संजोकर हस्ती जी ने 'कुछ और तरह से भी' संग्रह में बहुत खूबसूरत ग़ज़लें लिखी हैं -

इस बार मिले हैं ग़म कुछ और तरह से भी,
आंखें हैं हमारी नम कुछ और तरह से भी ।

एक और शेर आख़िर में -

उसने ही नहीं देखा ये बात अलग वरना ।
इस बार सजे थे हम कुछ और तरह से भी ।

"कुछ और तरह से भी" ग़ज़ल संग्रह अपने खूबसूरत व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण ग़ज़ल प्रेमियों के लिए एक खूबसूरत उपहार है. मुखपृष्ठ कलात्मक है. प्रिंटिंग में भी कुछ नयी बात है. ग़ज़ल खुद अपनी बात कहती है इसलिए और ज़्यादा कहने की गुंजाइश भी नहीं है. इस संग्रह के लिए हस्ती जी को शुभकामना ऐसे अनेक संग्रह पढ़ने वालों को मिलते रहें. बस...

सी/जी १०, श्रीपाल-वन नं. १,
खारोड़ी नाका, बोलिंज, विरार (प.) ४०१ ३०३.

कविता

तुम्हारी पुरानी ओढ़नी

✍ महीपाल भूरिया

तुम्हारी
पुरानी ओढ़नी पर लिखी हैं
तुम्हारी जीवन की करुण कहानियां
इसलिए इसे बदलना नहीं
खोना नहीं, रोना भी नहीं
भूल से किसी को
देना भी नहीं !

क्योंकि -
यही तो है केवल
तुम्हारे जीवन की
निर्दोष निशानी,
चाहे भूख या बदलाव से
क्यों न हो जाओ तुम बर्बाद

तुम्हारे इस भोले जीवन से
क्यों न हो जाओ जुदा,
चाहे ठंड हो या धूप,
वर्षा हो या बसंत,
ओढ़े ही रखना हर साल
अमानवीय व्यवहार को झेलते-झेलते
क्यों न हो जाओ तुम बर्बाद !

पर -
अंधेरी रातों व
भुखमरी के दिनों में भी
कलुषित लोगों में बीच
निरंतर रहने के बाद भी
अकलुषित ही रखना,
और चाहे वह
चिथड़े-चिथड़े क्यों न हो जाये
तब भी अधिक गौरव के साथ
इसी परिवेश में
ओढ़े ही रखना बारह मास.

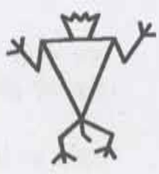

क्योंकि -
यही एक ठोस सबूत है
तुम्हें दिया ही क्या ?
इस भले समाज ने ।

और -
तुमने जो पाया है अंतर में
धोका, शोषण, भेदभाव, अन्याय व अपमान ।

और -
तुम्हें मिली भी कहां पूरी मज़दूरी ?
तुम्हारे मानव अधिकारों की रक्षा के लिए
कौन लड़ा है हिम्मत के साथ ?
किसने किया बलिदान अपने जीवन का ?

इसलिए -
ये कहानियां बेबस कहने
इसे ओढ़े ही रहना
दिन व रात...!

जीवन-ज्योति, मेघनगर
जिला-झाबुआ (म. प्र.) - ४५७७७९,

ग़ज़ल

✍ डॉ. प्रेमचंद पांडेय

रात बीती सुबह होने लगी है,
इधर इंसानियत सोने लगी है ।

दुश्मनों ने गीत गाये आज स्वागत में मेरे,
दोस्तों की भीड़ हटने लगी है ।

खुल रहे हैं कारखाने, इस शहर में खूब,
कुर्सियां सस्ती दरों पर मिलने लगी हैं ।

दर्जे हराहर इस शहर का, बढ़ गया है खूब,
खिड़कियों से सियासत की हवा आने लगी है ।

शाम इस दरख्त पर बैठ हुआ था शेर,
देखने को यह तमाशा, चिड़िया भी आने लगी है ।

हो रहे हैं मुल्क में ऐसे अमन परस्त,
खेती यहां बंदूक की होने लगी है ।

रोशनी भी गुल है, यारो इस शहर की देर से
रूठकर अब आंख भी जाने लगी है ।

प्रशस्तडीह-घोघा, भागलपुर (पूर्व रेलवे) ८१३२०५.

कविता

मत खींचो...रेखाएं

✍ मुरलीधर पांडेय

मत खींचो
जल की सतह पर रेखाएं
पढ़ा नहीं जायेगा.

मत रखो पांव
असंभव के धरातल पर
चला नहीं जायेगा.

मत लिखो
शब्दों की दीवार पर
इतिहास और भूगोल
नहीं बन पायेंगे कालपात्र.

मत पालो
भ्रम अपने मन में
समाधान ठोस धरातल
ढूंढ़ता है,
सही मायने में,
सही अर्थ खोजता है.

मत आने दो
विचारों के भूकंप
सम्हाला नहीं जायेगा.

तुम्हारे पास ऐसी
कोई कला नहीं
कि तुम मिला सको

जल में जल,
मिट्टी में मिट्टी,
वायु में वायु और
अग्नि में अग्नि

मुंह से निकला हुआ
शब्द भी तो तुम्हारा
अपना नहीं.

मत खींचो
जल की सतह पर रेखाएं
पढ़ा नहीं जायेगा... ।

✉ २०४/ए, चिंतामणि अपार्टमेंट, काशी विश्वनाथ मंदिर रोड,
आर. एन. पी. पार्क, भायंदर (पू.), मुंबई-४०१ १०५.

ग़ज़लें

✍ राम सनेहीलाल शर्मा 'यायावर'

(१)

जो जले थे कल उन्हीं में था तुम्हारा घर मियां ।
सुधर जाओ वक़्त कल ये दे न दे अवसर मियां ।।

एक दिन सिर आपका भी फूटना तय मानिए ।
मत थमाओ बालकों के हाथ में पत्थर मियां ।।

मौज झम्मन की रही झटके हुसैनी ने सहे ।
ज़िंदगी की राह में होता रहा अक्सर मियां ।।

क्यों हिमाकत कर रहा है सच बयां करने की तू ।
देखना टकरायेंगे माथे से कुछ पत्थर मियां ।।

पांव नंगे हैं, चले हम गर्म रेती पर सदा ।
और कांधों पर सलीबों का रह लश्कर मियां ।।

ढूंढ़ती मंजिल रही पर घर नहीं जिसका मिला ।
फिर भी चलता ही रहा दिल एक 'यायावर' मियां ।।

(२)

दिल में गुलशन आंख में सपना सुहाना रख ।
आस्मां की डालियों पर आशियाना रख ।।

हर कदम पर एक मुश्किल ज़िंदगी का नाम ।
फिर से मिलने का मगर कोई बहाना रख ।।

अर्थ में भर अर्थ की अभिव्यंजना का अर्थ ।
शक की सीमा के आगे भी निशाना रख ।।

कफ़स का ये द्वार टूटेगा नहीं सच है, मगर ।
हौसला रख अपना ये पर फड़फड़ाना रख ।।

तेरे जाने के पर जिसे दुहरायेगी महफ़िल ।
वक़्त की आंखों में इक ऐसा फसाना रख ।।

दर्द की दौलत से "यायावर" हुआ है तू ।
पांव की ठोकर के आगे ये ज़माना रख ।।

✉ रीडर-हिंदी विभाग,
एस. आर. के. (पी. जी.) कालेज, फिरोजाबाद -२८३ २०३.

कविता

कहने की बात

श्रीरंग

बोलने से नहीं चूकना,
सही वक़्त पर
सही बात करना,
कितनी भी बुरी लगे
खरी बात करना...

मत डरना,
थूक कर नहीं चाटना
कम खाना,
ग़म खाना
कम लिखना,
कम दिखना
पर पगुराने की लत मत डालना....

ज़रूरत पड़े तो
झूठ भी बोलना,
पर बोलना
चुप नहीं रहना
देना हर 'प्रश्न' का जवाब
बात बढ़े तो जमकर बढ़ाना
सारे चुप लोगों से बोलने को कहना...

'गंभीर' लोगों से बचना,
सतर्क रहना
आदमी परखना,
परखना ढैना तौलना
ग़लतफ़हमी में मत रहना
'कहने की बात'
ज़रूर कहना...

१ द्रौपदी घाट, सी. डी. ए. पेन्शन,
इलाहाबाद २११ ०१४.

आपकी किसी भी तरह की भागीदारी का स्वागत है. इस अंक पर अपनी बेबाक प्रतिक्रिया अवश्य भेजें. हमें आपके पत्रों का बेसब्री से इंतज़ार रहता है.

-सं

लघुकथाएं

मूल्यांकन

आलोक कुमार सातपुते

'जी लड़का तो वैसे एक छोटी सी नौकरी में है, पर है बड़ा ही प्रतिभावान कलाकार. कला के सभी क्षेत्रों जैसे, मूर्तिशिल्प, रेखाचित्र, छायाचित्र, साहित्य और संगीत में पारंगत है वह.' एक रिश्ता सुझाते हुए मध्यस्थ ने लड़की के पिता से कहा.

'अच्छा ! अपनी इन कथित कलाओं से वह कितना कमा लेता है ?' लड़की के पिता ने प्रश्न किया.

'जी उसने कला को कला ही रहने दिया है, पेशे के तौर पर नहीं अपनाया है. चूंकि ये सब उसके शौक मात्र हैं, इसलिए वह अपनी इन कलाओं से कुछ भी नहीं कमाता है.' मध्यस्थ ने जवाब दिया.

'तो काहे का कलाकार है ? ऐसी कलाओं को पालने का क्या मतलब है, जिसमें कमाई न हो ? ...मेरा तो यह मानना है कि, धन कमाना ही वास्तव में कला है, बाकी सब बेकार की बातें हैं. मैं अपनी लड़की की शादी ऐसी ज़गह नहीं कर सकता.' लड़की के पिता ने सपाट सा उत्तर दिया.

बजरंग नगर, रायपुर (छ. ग.)

अस्तित्व शून्य

डॉ. योगेंद्रनाथ शुक्ल

जगताप बाबू बाहर से आये अपने भतीजे राघव को नगर भ्रमण कराने घर से निकले थे. सड़क पर रैली निकल रही थी. दोनों फुटपाथ पर खड़े होकर उसे देखने लगे.

रैली में चल रहे लोगों के हाथ में तख्तियां थीं, जिनमें लिखा - 'जन-जन की भाषा हिंदी है'...'मंत्री-अधिकारी की भाषा हिंदी है'...'हिंदी का अपमान शहीदों और क्रांतिकारियों का अपमान है'...

इसी तारतम्य में किसानों, मजदूरों, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, न्यायालय आदि की भाषा हिंदी है, के नारे भी लग रहे थे.

"चाचाजी ! यदि इन सभी की भाषा हिंदी है, तो फिर इस प्रदर्शन की क्या ज़रूरत ?"

"बेटा ! हमारे मन में कुछ और है, मुंह में कुछ और... हम मातृभाषा प्रेम का सिर्फ़ प्रदर्शन भर करते हैं, उसे मन से सम्मान देना ही नहीं चाहते...?"

चाचाजी का जवाब सुनकर राघव को लगा जैसे रैली चलते-चलते अचानक अस्तित्वशून्य हो गयी हो !

३१० सुदामा नगर, अन्नपूर्णा रोड,
इंदौर (म. प्र.) ४५२ ००९

लेटर बॉक्स

❀ पच्चीसवें वर्ष में प्रवेश रत 'कथाबिंब' का अंक हस्तगत हुआ. पत्रिका पलटने पर हसन जमाल साहब की पत्रिका 'शेष' का विज्ञापन एवं लघुकथाएं पढ़कर आश्चर्य हुआ ! जहां पिछले अंकों में उन्होंने आपको काफी भला बुरा कहा था एवं कथाबिंब भेजने को स्पष्ट मना कर दिया था, वहीं अपनी पत्रिका का विज्ञापन एवं लघुकथाएं प्रेषित कर जमाल साहब ने सिद्ध कर दिया है कि उनकी अक्ल ठिकाने आ गयी है. ख़ैर देर आये दुरुस्त आये.

कहानियों में जयनारायण जी की कहानी लंबी ज़रूर है परंतु पाठक को बांधे रखती है एवं चिकित्सकों के दोगले व्यवहार व वर्तमान हालात में सांप्रदायिक माहौल को बखूबी उकेरती है. आलोक पांडेय की कहानी में इतना दम नहीं था, क्योंकि इस कथानक पर कई कहानियां लिखी जा चुकी हैं.

सूरज प्रकाश की कहानी बढ़िया लगी. ग़ज़लें, कविताएं एवं लघुकथाएं स्तरीय थीं. सागर-सीपी एवं आमने-सामने लाजवाब था.

✤ अर्जुन सिंह 'अंतिम'

झाबुआ-धार क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक शाखा,
टवलई, जिला-धार (म. प्र.)

❀ 'कथाबिंब' का नया अंक मिला. धन्यवाद. संपादकीय 'फ़िल्टर्ड दृष्टि' का परिचय देता है. जयनारायण जी ने अपने किस्म के जादुई यथार्थवाद की खोज की है, जो सुधीश पचौरी जैसों के फूको-देरिदा-बोर्खेज़-विमर्श से आगे की चीज़ है. सूरज प्रकाश जी हमेशा की तरह ईमानदार नज़र आये हैं. उनका आत्मकथ्य बेबाक बयान है, कुंठा और भड़ास का पिटारा नहीं, जैसा कुछ लोगों ने आत्मकथ्य को बना रखा है. उन्हें (उन तक) मेरी बधाई पहुंचे. उन्हें मैं अपना अग्रज ही मानता आया हूं. कुल मिलाकर अंक जानदार है.

✤ अभिनव ओझा

२१०/७/बी/१, स्टेनली रोड, कमलानगर,
इलाहाबाद - २११ ००२ (उ. प्र.)

❀ 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च ०४ का अंक मिला. आपकी पीड़ा स्वाभाविक है कि सौ करोड़ से अधिक आबादी वाले देश में एक भी स्वदेशी नेता उपलब्ध नहीं है जो सबसे पुरानी पार्टी का नेतृत्व कर सके. आज़ादी के बाद पचास वर्ष के शासन में इस पार्टी ने यह प्रगति की कि देश को चलाने के लिए स्वदेशी नहीं विदेशी नेता चाहिए. रचनाओं के स्तर पर प्रेम प्रकाश से जिंदर द्वारा लिया गया साक्षात्कार अच्छा लगा. साक्षात्कार के माध्यम से रचनाकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को गंभीरता से परखने का अच्छा अवसर मिलता है. नयी पीढ़ी को दिशा भी मिलती है. अन्य रचनाएं भी पठनीय हैं.

✤ राजेंद्र परदेसी

बी-११८, इंदिरा नगर, लखनऊ-२२६०१६

(...पृष्ठ ३ का शेष भाग)

❀ जनवरी-मार्च अंक में श्रीमान जिंदर की वरिष्ठ साहित्यकार प्रेम प्रकाश से की बातचीत प्रभावी लगी. बातों में उतार-चढ़ाव ऐसे लगते हैं जैसे स्वयं पाठक उनसे रुबरु हो रहा है. आमने-सामने में दी सामग्री अच्छी और उच्च साहित्य पढ़ने वालों के लिए उपयोगी है. सबसे बड़ी बात यह है कि आप अपनी पत्रिका की मुख्य विधा 'कहानी' को केंद्र में रखकर सामग्री जुटा उसे नियमित बनाये हैं.

✤ दिलीप कुमार गुप्ता

भारतीय पत्रकारिता संस्थान, ३२६ संस्थान मार्ग,
कहरवान, बरेली (उ. प्र.)

❀ मेरी रुचि शुरु से ही कहानियों के प्रति ज्यादा ही रही है. अतः मैंने श्री आलोक पांडेय की 'निर्मोही' सबसे पहले पढ़ी. जाति पाति या गरीबी-अमीरी को मुख्य बिंदु मानकर, प्रेम को आधार स्तंभ बनाकर रची गयी यह कहानी अत्यंत रोचक और अतुलनीय है. कहानी के माध्यम से श्री पांडेयजी के शिल्प की मैं बहुत-बहुत प्रशंसा करुंगा. एक लंबे अंतराल के पश्चात् मैंने इतना अच्छा शिल्प देखा. इसके अलावा, लघुकथाकारों में डॉ. रामनिवास मानव की 'मुक्ति', हसन जमाल की 'असभ्य' एवं 'आग और पानी', मंगला रामचंद्रन की 'फ़ासला' तथा मनोज सोनकर की 'समझौता' बहुत अच्छी लगीं. शिव ओम 'अंबर' की ग़ज़लें बहुत पसंद आयीं. डॉ. सुरेंद्र वर्मा के दोहे भी पसंद आये. डॉ. (श्रीमती) राजकुमारी पाठक के दोनों गीतों में से 'कौन ?' मन को भा गया. शब्द और उसके चयन से लगा कि किसी छायावादी कवियित्री की रचना पढ़ रहा हूं. आज जब गीत गाये तो जाते हैं परंतु उनके अर्थ समझ नहीं आते, ऐसे में यह एक सार्थक प्रयास है.

संपूर्ण पत्रिका स्तरीय है. 'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपने मीडिया के चरित्र और उसकी जिम्मेदारी सुनिश्चित करने को कहा है. बहुत अच्छा लगा. पढ़ने पर कई बार ऐसा लगता है कि आप राजनीति से प्रेरित हैं. फिर सोचा कि पत्रिका चलाने के लिए यह आवश्यक होता होगा. कृपया पत्रिका को राजनीति से दूर रखें.

✤ डॉ. पूरन सिंह

२४०, बाबा फरीदपुरी, वेस्ट पटेल नगर, नयी दिल्ली-११०००८.

❀ अस्पताल के प्रतीक्षालय में 'कथाबिंब' पढ़ी. जय नारायण तथा आलोक पांडेय की कहानियों ने मन को छुआ. लेकिन आमने-सामने में सूरज प्रकाश मात्र अपनी असफल प्रेम कहानियां ही सुनाते रहे. यही नहीं उनकी कहानी 'राइट नंबर, रॉन्ग नंबर' भी उनकी अधूरी प्यास का आइना भर ही है. क्या इस लेखक के पास लेखन के लिए और कुछ नहीं है. ऐसा व्यक्ति घर में भला कैसे टिक सकता है ? वह घर के माहौल में भी बेघर ही रहेगा. इसे फिर से जीना सीखना चाहिए. बहरहाल अच्छे अंक लिए साधुवाद.

✤ प्रो. शामलाल कौशल

मकान नं. ९७५-बी/२०, ग्रीन रोड, रोहतक-१२४००१

❀ 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च ०४ अंक मिला. सर्वप्रथम तो 'कथाबिंब' के रजत जयंती वर्ष में प्रवेश पर मेरी बधाई स्वीकार करें. इतने दिनों में आपने सिर्फ़ संघर्ष किया है. आपके इसी संघर्ष का फल है कि चौथाई शताब्दी बीत जाने पर भी 'कथाबिंब' का स्तर और तेवर वही है जो पहले था. अनेक लघु पत्रिकाओं को समझौता करते हुए और अपना स्तर गिराते हुए देखा गया है. उसके बाद भी वे दीर्घजीवी नहीं रह सकीं. 'कथाबिंब' का न तो स्तर गिरा है और न ही कोई समझौता किया है.

लंबी कहानियां मुझे अच्छी नहीं लगती. प्राय: वे अपने उद्देश्य से भटक जाती हैं किंतु जयनारायण की कहानी 'महाभिनिष्क्रमण' बहुत ही अच्छी कहानी है. सूरज प्रकाश की कहानी 'राइट नंबर-रॉन्ग नंबर' अच्छी है. मुझे तो लगा था कि यह 'रुबी ऊर्फ चंदर कला' हो जायेगी किंतु होते-होते रह गयी.

हसन जमाल ने मना किया था कि आप उन्हें 'कथाबिंब' न भेजें क्योंकि वे सेकुलर हैं. अब उन्होंने दो लघुकथाएं भेज दीं और आपने छाप भी दीं. यह बहुत अच्छी बात है. राजकुमारी पाठक की कविताएं पसंद आयीं. डॉ. सुरेंद्र वर्मा के दोहे मात्राओं की दृष्टि से भी ठीक नहीं हैं. सिर्फ़ तुकबंदी करने का असफल प्रयास किया गया है. 'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपने बहुत अच्छा विषय उठाया है. सौ करोड़ से अधिक आबादी में प्रधान मंत्री बनने योग्य बहुत से लोग हैं लेकिन केवल एक दर्जन लोग ही अपने को इस योग्य समझते हैं. जिस तरह लालू बहू मुख्य मंत्री हैं, पनीर सेल्वम मुख्य मंत्री बनाये गये थे, उसी तरह मनमोहन सिंह प्रधान मंत्री बनाये गये हैं. एक आखर कहने पर ही हट जायेंगे. इतना जनाधार-हीन व्यक्ति कहां आसानी से मिलता. कितने अर्जुन सिंह, प्रणव मुखर्जी ताकते रह गये. किंतु ये लोग इतने विश्वसनीय कैसे हो सकते थे. सोनियाजी का 'महान त्याग' ही अकारथ चला जाता !

❖ नरसिंह नारायण

१३२६, विवेकानंद नगर, सुलतानपुर (उ. प्र.) - २२८००१

❀ 'कथाबिंब' का नया अंक मिला. कहानियों का चयन इस बार भी बेहतरीन रहा. जयनारायण की कहानी 'महाभिनिष्क्रमण' न केवल आज तक के समय को पैनी दृष्टि से देखकर रची गयी कहानी है प्रत्युत भविष्य का आइना भी है. राष्ट्रीय सौहार्द की अपने में सिमटकर गठरी बनती जा रही मानसिकता ने आदमी-आदमी के बीच जो फासला बढ़ा दिया है उसे कथाकार ने गहरी संवेदना से तराशा है. 'निर्मोही' तथा 'राइट नंबर - रॉन्ग नंबर' नारी के दैहिक-आकर्षण को दो विभिन्न स्थितियों में रेखांकित करती, पठनीय कहानियां हैं. दोनों ही रचनाएं एक ही कथ्य-बीज को समेटे होने के बावजूद परिवेश तथा प्रभाव के संदर्भ में एक दूसरे से अलहिदा हैं. एक में यदि गंभीरता अधिक है तो दूसरी में रोचकता. बावजूद इसके सूरज प्रकाश ने कहन की प्रविधि में विशिष्टता हासिल कर महानगरीय-जीवन में नारी के बदलते चेहरे को तटस्थ नैरेटर के रूप में उजागर किया है.

"सागर-सीपी" में प्रेमप्रकाश से जिंदर ने आत्मीय तथा साहित्यिक स्तर पर बातचीत करके कुछ ऐसे तथ्यों को सामने लाने की कोशिश की है जो भाषा नहीं साहित्य से वास्ता रखते हैं. इस माध्यम से हिंदीतर साहित्यिक-माहौल में क्या और कैसा लिखा जा रहा है यह जानने समझने की सामग्री आपने अपने पाठकों के लिए प्रस्तुत कर स्तुत्य कार्य किया है. श्री हसन जमाल की दो लघुकथाएं तथा 'शेष' का विज्ञापन पढ़, देखकर ऐसा लगा मानो अलगू चौधरी और जुम्मन शेख तमाम मतभेदों को नज़र अंदाज कर चौपाल पर खड़े हाथ मिला रहे हों. आप दोनों को इस नयी शुरुआत के लिए बधाई.

पाठकीय प्रतिक्रियाओं के आधार पर घोषित पुरस्कारों की घोषणा के साथ ही तकरीबन अधिकांश कहानियों के चेहरे सामने आ गये. पाठकों के अभिमत से रचनाकारों की जहां एक ओर उनकी मानसिकता को समझने का मौका मिलता है वहीं पाठकों को अपनी सार्थक भागीदारी से विशेष सुकून. इस आयोजन के लिए आपको विशेष बधाई.

❖ डॉ. सतीश दुबे

७६६, सुदामा नगर, इंदौर (म. प्र.) - ४५२ ००९

कुछ कही, कुछ अनकही

(. . . पृष्ठ ४ से आगे)

बहुत से ऐसे मुद्दे हैं जिन पर टिप्पणी की जा सकती है पर शायद किसी और वक़्त....

गठबंधन की मजबूरियों से कॉन्ग्रेस दो-चार होने का प्रयास कर रही है, भाजपा चिंतन बैठकों में व्यस्त है, वामपंथी बाहर रह कर, बिना किसी दायित्व का निर्बाह करते हुए हर क्षेत्र में अपना एजेंडा लागू करने में जी तोड़ लगे हैं. आंध्र प्रदेश में पीपुल्स वार ग्रुप के ऊपर से प्रतिबंध उठा दिये गये हैं. क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से ही सही सरकार में उसकी भागीदारी है. लेकिन अन्य प्रांतों में नक्सलियों, माओवादियों के साथ ही वामपंथ परिवार का हर उग्रवादी घटक सक्रिय हो उठा है. बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश में इनकी गतिविधियों में तेजी आ गयी है. आजकल माओवादी बड़ी आसानी से, नेपाल से भारत और भारत से नेपाल आ-जा सकते हैं. चुनाव जीतने में जिन शक्तियों का इस्तेमाल किया गया था वे अपना हिस्सा तो मांगेगी ही. इसके चलते कितने मासूम लोगों की जानें जा रही हैं इसका अंदाज लगा पाना मुश्किल है. यह वामपंथ परिवार का खुला एजेंडा है. मानवाधिकारी 'एक्टिविस्ट' भी कान में तेल डाले बैठे हुए हैं. इससे पहले कि पानी सर के ऊपर आ जाये हमें चेतना ज़रूरी है.

●

इस वर्ष भी 'कथाबिंब' के सभी अंकों में प्रकाशित कहानियों पर पाठकों से वर्ष के अंतिम अंक में अभिमत आमंत्रित किये जायेंगे. आपसे अनुरोध है कि सभी अंक सुरक्षित रखें. यदि किसी कारण से आपको कोई भी अंक न मिले तो कृपया सूचित करें. आपकी राय हमारे लिए बहुत ही मूल्यवान है. आपकी प्रतिक्रियाओं का हमें हमेशा ही बेसब्री से इंतज़ार रहता है.

अरविंद

'कथाबिंब' के आजीवन सदस्य

प्रारंभ से लेकर अब तक 'कथाबिंब' ने काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं, इस दौरान जिन व्यक्तियों या संस्थाओं से हमें सहयोग मिला हम उन सभी के आभारी हैं. 'कथाबिंब' का देश में, एक व्यापक पाठक वर्ग बन गया है. हमारी इच्छा है कि 'कथाबिंब' और अधिक लोगों द्वारा पढ़ी जाये.

आजीवन सदस्यों के हम विशेष आभारी हैं. जिनके सहयोग ने हमें ठोस आधार दिया है. सभी आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि वे एक या दो या अधिक लोगों को आजीवन सदस्यता स्वीकारने के लिए प्रेरित करें. संभव हो तो अपने संपर्क के माध्यम से विज्ञापन भी उपलब्ध करायें. ***यदि विज्ञापन दिलवा पाना संभव हो तो कृपया हमें लिखें.***

१) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
२) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
३) स्वामी विवेकानंद हाई स्कूल, कुर्ला, मुंबई
४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, मुंबई
५) डॉ. ए. वेणुगोपाल, मुंबई
६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
१०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, मुंबई
११) श्री अमर ठकुर, मुंबई
१२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
१३) डॉ. राजनारायण पांडेय, मुंबई
१४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
१५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
१६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
१७) श्री अशोक आंद्रे, पंचमढ़ी
१८) श्री कमलेश भट्ट 'कमल', मथुरा
१९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
२०) श्री कुशेश्वर, कलकत्ता
२१) सुश्री कनकलता, धनबाद
२२) श्री भूपेंद्र शेठ 'नीलम', जामनगर
२३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
२४) प्रो. शाहिद अब्बास अब्बासी, पांडिचेरी
२५) सुश्री रिफ़अत शाहीन, गोरखपुर
२६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, अनपरा, सोनभद्र
२७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
२८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
२९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
३१) श्री सत्यप्रकाश, दिल्ली
३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, नवी मुंबई
३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह विष्ट, 'बटरोही,' नैनीताल
३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
४०) श्री दिनेश पाठक 'शशि', मथुरा
४१) श्री प्रकाश श्रीवास्तव, वाराणसी
४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, उज्जैन
४३) श्री जसवंत सिंह विरदी, जालंधर
४४) प्रधानाध्यापक, 'ब्लू बेल' स्कूल, फतेहगढ़
४५) डॉ. कमल चोपड़ा, दिल्ली
४६) श्री आर. एन. पांडे, मुंबई
४७) डॉ. सुमित्रा अग्रवाल, मुंबई
४८) श्रीमती विनीता चौहान, बुलंदशहर
४९) श्री सदाशिव 'कौतुक', इंदौर
५०) श्रीमती निर्मला डोसी, मुंबई
५१) श्रीमती नरेंद्र कौर छावड़ा, औरंगाबाद
५२) श्री दीप प्रकाश, मुंबई
५३) श्रीमती मंजु गोयल, नवी मुंबई
५४) श्रीमती सुधा सक्सेना, नवी मुंबई
५५) श्रीमती अनीता अग्रवाल, धौलपुर
५६) श्रीमती संगीता आनंद, पटना
५७) श्री मनोहर लाल टाली, मुंबई
५८) श्री एन. एम. सिंघानिया, मुंबई
५९) श्री ओ. पी. कानूनगो, मुंबई
६०) डॉ. ज. वी. यख्मी, मुंबई
६१) डॉ. अजय शर्मा, जालंधर
६२) श्री राजेंद्र प्रसाद 'मधुबनी', मधुबनी
६३) श्री ललित मेहता 'जालौरी,' कोयंबटूर
६४) श्री अमर स्नेह, नवी मुंबई
६५) श्रीमती मीना सतीश दुबे, इंदौर
६६) श्रीमती आभा पूर्वे, भागलपुर
६७) श्री ज्ञानोत्तम गोस्वामी, मुंबई
६८) श्रीमती राजेश्वरी विनोद, नवी मुंबई
६९) श्रीमती संतोष गुप्ता, नवी मुंबई
७०) श्री विशंभर दयाल तिवारी, मुंबई
७१) श्री अभिषेक शर्मा, नवी मुंबई
७२) श्री ए. बी. सिंह, निबोहड़ा, चितौड़गढ़
७३) श्री योगेंद्र सिंह भदौरिया, मुंबई
७४) श्री विपुल सैन 'लखनवी', मुंबई
७५) श्रीमती आशा तिवारी, मुंबई
७६) श्री गुप्त राधे प्रयागी, इलाहाबाद
७७) श्री महावीर रवांल्टा, बुलंदशहर
७८) श्री रमेश चंद्र श्रीवास्तव, फतेहगढ़
७९) डॉ. रमाकांत रस्तोगी, मुंबई
८०) श्री महीपाल भूरिया, मेघनगर, झाबुआ (म. प्र.)

'कथाबिंब' के आजीवन सदस्य

८१) श्रीमती कल्पना बुद्धदेव 'व्रज', राजकोट
८२) श्रीमती लता जैन, नवी मुंबई
८३) श्रीमती श्रुति जायसवाल, मुंबई
८४) श्री लक्ष्मी सरन सक्सेना, कानपुर
८५) श्री राजपाल यादव, धनबाद
८६) श्रीमती सुमन श्रीवास्तव, नयी दिल्ली
८७) श्री ए. असफल, भिंड (म. प्र.)
८८) डॉ. उर्मिला शिरीष, भोपाल
८९) डॉ. साधना शुक्ला, फतेहगढ़
९०) डॉ. त्रिभुवन नाथ राय, मुंबई
९१) श्री राकेश कुमार सिंह, आरा (बिहार)
९२) डॉ. रोहितश्याम चतुर्वेदी, भुज-कच्छ
९३) डॉ. उमाकांत बाजपेयी, मुंबई
९४) श्री नेपाल सिंह चौहान, नाहरपुर (हरि.)
९५) श्री रूप नारायण तिवारी 'वीरान', बिलासपुर
९६) श्री जे. पी. टंडन 'अलौकिक', फ़र्रुख़ाबाद
९७) श्री शिव ओम 'अंबर,' फ़र्रुख़ाबाद
९८) श्री आर. पी. हंस, मुंबई
९९) सुश्री अल्का अग्रवाल सिगतिया, मुंबई
१००) श्री मुन्नू लाल, बलरामपुर (उ. प्र.)
१०१) श्री देवेंद्र कुमार पाठक, कटनी
१०२) सुश्री कविता गुप्ता, मुंबई
१०३) श्री शशिभूषण बडोनी, मसूरी
१०४) डॉ. वासुदेव, रांची
१०५) डॉ. दिवाकर प्रसाद, नवी मुंबई

: प्राप्ति-स्वीकार :

हमको सुरग नहीं चाहिए (कहानी-संग्रह) : **कनकलता**, जगतराम एंड सन्स, २४/४८५५, अंसारी गंज, दरियागंज, नयी दिल्ली ११०००२ मू. १२५/-

कथा दशक (क. सं.) : **सं. सूरज प्रकाश**, मेधा बुक्स, एक्स-११, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२. मू. २००/-

समवेत स्वर और अन्य कहानियां (क. सं.) : **यशपाल बैद**, आई. बी. ए. पब्लिकेशन्स, ६२६९/पी, निकलसन रोड, अंबाला छावनी-१३३००१. मू. २००/-

गद्य सप्तक-१ (क. सं.) : **सं. उमाशंकर मिश्र**, उद्योग नगर प्रकाशन, ११वी-१३६ नेहरू नगर, गाजियाबाद (उ. प्र.). मू. २२५/-

रेत का घरौंदा (क. सं.) : **डॉ. पद्मा शर्मा**, नवचेतन प्रकाशन, जी-५, गली नं. १६, राजापुरी, उत्तमनगर, दिल्ली-५९. मू. १२५/-

सच के सिवा (ल. सं.) : **जसबीर चावला**, उड़ान पब्लिकेशन्स, मानसा-१५१५०५. मू. ९०/-

एकलव्य (लघुकथा + काव्य) : **सं. महीपाल भूरिया व रामशंकर 'चंचल'**, शबरी कला मंडल, एम. सी. कंपाउंड, झाबुआ (म. प्र.) ४५७६६१. मू. १५०/-

त्रिवेणी (ल. सं.) : **डॉ. योगेंद्रनाथ शुक्ल, सुरेश शर्मा, प्रतापसिंह सोढ़ी**, प्रगतिशील लेखक संघ, बी-१०, अरविंद नगर, उज्जैन (म. प्र.). मू. १००/-

करना तेज बिकास (दोहा-सतसई) : **ए. बी. सिंह**, रेखा प्रकाशन, ए-१ कैलाश नगर, निंबाहेड़ा, चित्तौड़गढ़ - ३१२६१७.

आईना (क.सं.) : **मोहन तिवारी**, सिद्धार्थ प्रकाशन, भोपाल. मू. ३०/-

एक रात (हास्य व कहानी सं.) : **सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा**, ४०२, अंबफला, जम्मू (ज. व. क.) १८०००५. मू. १००/-

विकल कथा का आग्रह (कविता) : **सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा**, ४०२, अंबफला, जम्मू (ज. व. क.) १८०००५. मू. ६०/-

दीवार में दरार है (ग़ज़ल सं.) : **गोपाल कृष्ण 'पंकज'**, मेधा प्रकाशन, एक्स-११, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२. मू. १००/-

धरती ने दिये हैं बीज (क. सं.) : **अशोक चंद्र**, अनिमेष फॉउंडेशन, डी-२/५९३, सेक्टर एफ, जानकी पुरम, लखनऊ-२२६०२१. मू. ८०/-

वो घर नहीं रहा (कविता) : **शिशिर उपाध्याय**, सुजन प्रकाशन, ६ शर्मा कॉलोनी, बड़वाह, खरगोन (म. प्र.). मू. १५०/-

युद्ध के बाद (कविता) : **ओम प्रकाश अडिग**, नंदन प्रकाशन, रानी कटरा, लखनऊ-२२६ ००३. मू. ६०/-

'किरण देवी सराफ ट्रस्ट' (मुंबई) के सौजन्य से प्रकाशित पुस्तकें

मैं शायर नहीं (नज़्म व गीत) : **क़मर 'हाजीपुरी'**, मू. १००/-, **अनंत की ओर** (कविता सं.) : **त्रिलोचन सिंह अरोरा**, (अमूल्य)
आज की तस्वीर (कविता) : **पी. एच. दासर**, मू. : ३०१/-, **दीवाना ज्ञान दर्पण** (काव्य संग्रह) : **राजमोहन चौबे**, मू. १०१/-
गहराई (का. सं.) : **विनोद चंदेल**, मू. १०१/-, **अलबम** (नैतिक कहानियां) : **मंजु गुप्ता**, मू. १२५/-
यादों के भंवर (का. सं.) : **नंदलाल थापर**, मू. १००/-, **ज़िंदगी होड़ में है** (क. सं.) : **हंसा रवि यादव**, मू. १२५/-
बटवारे का दंश (क. सं.) : **दिनेश बैसवारी**, मू. १०१/-, **ज़िंदगी, ज़िंदगी** (कहानी-कविता संग्रह) : **अर्चना प्रियंवदा जौहरी**, मू. ५०/-
जननी आशीष (कहानी) : **घनश्याम दास 'द्विज'**, मू. २२/-, **श्रृंगार अधूरा** (का.सं.) : **नागेंद्र सिंह**, मू. ५५/-

ॐ

मार्ग-प्रदर्शन

(पूज्य स्वर्गीय सेठ मुरारीलालजी, जालना)

१. ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखो. जो भी कार्य करें यह समझते हुए करें कि वह महान शक्तिमान हमें देख रहा है.

२. हमेशा सत्य बोलने की आदत डालो. सदैव सत्य की विजय होती है. झूठ बोलने से मुमकिन है कुछ दिनों के लिए आदमी उन्नति कर जाये किंतु वह चिरस्थायी नहीं होता.

३. तुम किसी का भला नहीं कर सकते तो बुरा भी मत करो. यदि कोई आदमी किसी प्रकार की राय लेने आये तो उसको सीधी और अच्छी राय दो. तकलीफ़ में भी शिष्टाचार को हाथ से मत जाने दो.

४. राजनीति के कीचड़ से बचकर क्रियात्मक रूप से जनता की निस्वार्थ सेवा करो. जनता से अविद्या, बीमारी और बेरोज़गारी दूर करो.

५. सदाचारी बनो. सदाचार की पूंजी वास्तविक पूंजी है. संध्या, स्वाध्याय, सत्संग, सेवा और संयम प्रतिदिन करो.

६. अपनी हैसियत से ज्यादा ख़र्च करने वाला आदमी हमेशा दुःखी रहता है, जनता के सामने अपने को वही बताओ जो तुम हो, आडंबर मत रचो. इससे मन को शांति मिलती है. फ़िजूलख़र्ची बेईमानी को जन्म देती है. सरलता में पवित्रता है और कपट में अपवित्रता. महंगाई का मुकाबला सादगी और बचत से करो. एक माता हजार पिताओं से बढ़कर है.

७. आलसी मत बनो, आलसी हमेशा दरिद्र रहता है. पुरुषार्थी बनो, हर प्रकार से सुख मिलेगा.

८. धन कमाओ और सतकर्मों में दान भी करो, सुपात्र को अपने द्वार से कभी खाली मत जाने दो, यथाशक्ति श्रद्धा से अवश्य दो.

९. यदि किसी दुकान में मुनीम चोरी करता है तो मालिक डूब जाता है और यदि मालिक चोरी करता है तो दुकान डूब जाती है (समाप्त हो जाती है). मजदूर की मजदूरी उसका पसीना सूखने से पहले दे दो.

१०. कम आढ़त पर काम करने वाले आढ़ती तथा कम वेतन पर अधिक काम करने वाले आदमी से हमेशा सावधान रहो.

MURARI

BUILDERS & DEVELOPERS

Shop No. 4, Plot 15/B, Sector-17,
Pooja Complex, New Panvel - 410 206.

Tel/Fax : 2745 9448,
Ph. : 3098 9532 / 3099 8566, Mobile : 3279 9310
Email : rajendra_agrawal@vsnl.net
visit us : www.muraribuilders.com

संपूर्ण सुधारित अद्ययावत आवृत्ती

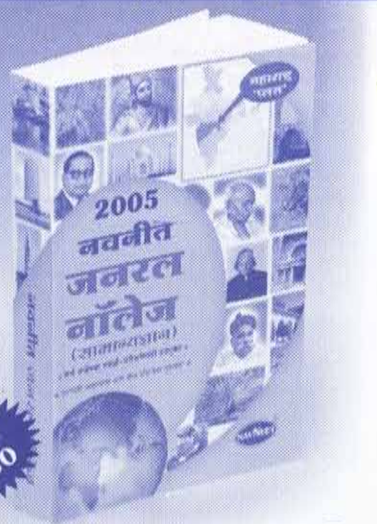

पृष्ठे ६४०

2005 नवनीत जनरल नॉलेज

महाराष्ट्र 'प्लस'

(सामान्यज्ञान)

- अगदी नाविन्यपूर्ण पुस्तक.
- महत्त्वाच्या सर्वांगीण माहितीचा स्वतंत्र महाराष्ट्र विभाग.
- जग व भारतविषयक महत्त्वाच्या माहितीचे २४ सुटसुटीत भाग.
- ...आणि उपयुक्त असे बरेच काही !
- UPSC व MPSC च्या सर्व परीक्षांसाठी आणि अन्य स्पर्धा-परीक्षांसाठी उपयुक्त.

घरातील सर्वांना उपयोगी ठरेल असे अद्वितीय पुस्तक

नवनीत पब्लिकेशन्स (इंडिया) लिमिटेड NAVNEET®

नवनीत भवन, भवानी शंकर रोड, दादर (प), मुंबई-४०० ०२८. • फोन : ५६६२ ६४००

प्रत्येक घरी, हवे आणि हवेच... नवनीत जनरल नॉलेज... आजच खरेदी करा.

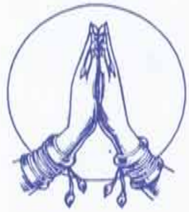

वर्मा कोल्ड ड्रिंक
एवं
वर्मा उपहार गृह

कुम्हार वाड़ा, ए. जे. वाड़ी,
सायन-ट्रॉम्बे रोड, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१.
फोन : २५२९ ७८५६

आर. एन. आई. पंजीकरण संख्या : ३५७६४/७९

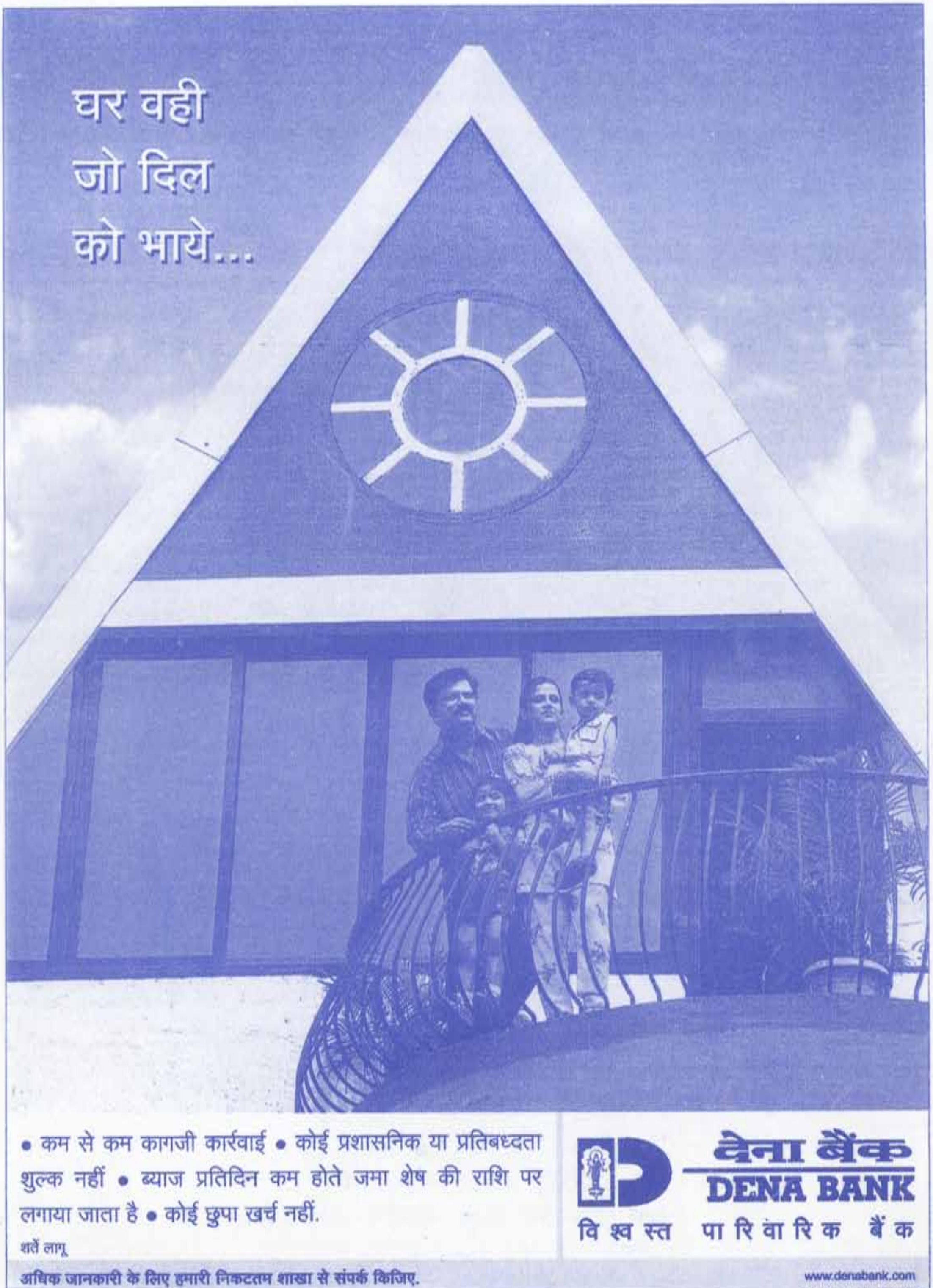

मंजुश्री द्वारा संपादित व **आर्ट होम**, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.
टाइप सेटर्स : **वन-अप प्रिंटर्स**, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१. फो. : २५२१ ६२८४.